धर्म ग्रन्थमाला] ओ३म् [द्वितीय पुष्प

अग्निसूक्त

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का प्रथम सूक्त।

टीका टिप्पणी, तथा स्पष्टीकरण समेत।

सम्पादक

श्री. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

प्रकाशक, लाहौर

ला० केदारनाथ मंत्री आर्य्य प्रतिनिधि

सभा लाहौर।

सम्वत १९६९। सन १९१२

प्रथम वार १०००] [मूल्य =)

पञ्जाब प्रिंटिंग वर्क्स लाहौर ॥

प्रिय पाठक वृन्द !

वेद विषय को अति सरल व रोचक बनाने और सर्व साधारण के विचार और स्वाध्याय के सहायतार्थ यह "धर्म ग्रन्थ माला" नामक सीरीज़ श्रीमति आर्य्य प्रति निधि सभा पंजाब की ओर से प्रकाशित किया जाता है। इस के सम्पादक श्री पाद दामोदर सातवलेकर जी हैं जो वेदों के एक प्रसिद्ध विद्वान हैं॥

उक्त पण्डित जी ने वेदों के गूढ़ अर्थों और आशयों को ऐसा सरल और स्पष्ट कर दिया है कि जिस से एक साधारण बुद्धि वाला भी भली प्रकार ज्ञान वान हो सकता है। मुझे पूर्ण आशा है कि आर्य्य भाई इस ग्रंथ माला को अवश्य पसन्द करके इस से लाभ उठावेंगे और वेद की सत्य विद्याओं से अपनी बुद्धि को स्वच्छ और जीवन को पवित्र करेंगे॥

भवदीय

केदार नाथ

मंत्री आर्य्य प्रति निधि सभा पंजाब,

लाहौर॥

॥ ओ३म् ॥

"धर्म ग्रन्थ माला."

उद्देश

परम पवित्र "वैदिक धर्म" सब धर्मों से श्रेष्ठ धर्म है, वही धर्म सब से प्राचीन धर्म है, और उसी के पालन से सब मनुष्यों की ऐहिक तथा पारमार्थिक उन्नति हो सकती है, इस में कोई भी संदेह नहीं।

इस परम पवित्र तथा उज्वल वैदिक धर्म का मूल पुस्तक "वेद" है, वेद की चार संहितायें हैं, उन को क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद तथा अथर्ववेद कहते हैं, इन चार संहिताओं में मनुष्य की उन्नति का संपूर्ण ज्ञान बीज रूप से भरा हुआ है, इस लिये "वेदों का पढ़ना पढ़ाना, सुनना सुनाना आर्यों

का परम धर्म है" इसी प्रकार वैदिक ज्ञान का प्रसार करने के लिये ग्रंथ लेखन तथा ग्रन्थ प्रकाशन करना भी वैदिक धर्मियों का परम धर्म है ॥

इस उद्देश को दृष्टि के सामने रख कर "स्वधर्म-ग्रंथ-माला" प्रकाशित करने का विचार किया हुआ है. इस ग्रंथ माला में वेदमंत्रों का अर्थ सुबोध स्पष्ट करने का विचार है, जहां तक हो सके वहां तक मंत्रों के अध्यात्मिक अर्थ ही मुख्यतया प्रकाशित किये जायंगे, और प्रसंग विशेष में आधिदैविक तथा आधिभौतिक अर्थों का भी प्रकाश किया जायगा, जिस से वाचकों के अंतः करण में वेदों का गौरव स्वयमेव प्रकाशित होगा ॥

इस ग्रंथ माला के पुस्तकों में विशेष यह होगा कि वेद मंत्रों के अर्थ जानने में जो कठिनता है, उस को दूर करके, मंत्रों के अर्थ का ज्ञान स्पष्ट कारण द्वारा ऐसा सुबोध किया जाएगा कि पाठक शीघ्र ही विना आयास वेद मंत्रों के गूढार्थ को समझ सकेंगे

और वैदिक उपदेश को अपने जीवन में लाने वाले महाशय अपने असली जीवन में उन उच्च वैदिक उपदेशों को लाकर अपना, तथा सब मनुष्यों का, ऐहिक तथा पारमार्थिक उद्धार कर सकेंगे, इसी लिये इस ग्रंथ माला की ओर सब मनुष्यों को ध्यान देना उचित है ॥

इस ग्रंथ माला द्वारा वेद मंत्रों के अर्थ प्रकाशित करने का मुख्य उद्देश वैदिक धर्म का प्रचार करना है इस लिये इन ग्रंथों का मूल्य जितना न्यून से न्यून रख सकेंगे उतना न्यून रखने का विचार है, अतः वैदिक धर्म के प्रेमी लोगों से मैं आर्थिक सहायता की अपेक्षा करता हूं, और मुझे पूर्ण आशा है कि सहृदय आर्य लोग इस अंगीकृत कार्य की पूर्ति के लिये मुझे अवश्य सहायता देंगे ॥

लाहौर
२४-४-१२ — श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

—:०:—

गुरु शिष्य संवाद

क वैदिक धर्मी शिष्य अपने आचार्य के पास जा कर वेदाध्ययन प्रारंभ करता है:—

शिष्य—गुरू जी महाराज ! नमस्ते !

गुरू—नमस्ते ! आज बहुत दिनों के बाद क्यों आए हो ?

शिष्य--आप की कृपा से मैंने कई आर्ष शास्त्रों का अध्ययन किया है, अब मैं वेद का अध्ययन करना चाहता हूं, कृपया मुझे उस वैदिक ज्ञान का यथोचित उपदेश दीजिये ॥

गुरू--जो मैं जानता हूं वह तुम को बता दूंगा परंतु वेद का अध्ययन करना विशेषतः वेद का अध्यापन करना बड़ा कठिण काम है, इस के लिये गुरू का तथा शिष्य का हृदय पवित्र रहना चाहिये, सात्विक भाव उस के मन में रहने चाहियें ॥

शिष्य--मैं अपनी ओर से प्रयत्न करूंगा और जैसा आप कहें वैसा ही आचरण करूंगा ॥

गुरू--अच्छी बात है, अब तुम कहो कि चारों वेदों में से किस वेद का अध्यन तुम करना चाहते हो ?

शिष्य--जो आप पढ़ायेंगे उस का अध्ययन मैं करूंगा ॥

गुरू—प्रथम ऋग्वेद के कई सूक्त पढ़ने चाहिये फिर अन्य वेदों का प्रारंभ किया जा सकता है, इस लिये ऋग्वेद को ही प्रथम प्रारंभ करो उस का प्रथम सूक्त "अग्नि" देवता विषयक है ॥

शिष्य—देवता किस को कहते हैं ?

गुरू—देवता का विशेष वर्णन मैं फिर किसी समय करूंगा, इस समय इतना ही ध्यान में रखो कि जिस मंत्र में जो विषय है, अथवा जिन मंत्रों में जिस का वर्णन है उस की वह देवता है, इस ऋग्वेद के प्रथम सूक्त में अग्नि का वर्णन है इस लिये इस सूक्त की अग्नि देवता है, इस सूक्त का ऋषी "मधुछंदा" है ॥

शिष्य—ऋषी किस को कहते हैं ॥

गुरू—जो मंत्रद्रष्टा होता है उस को ऋषी कहते हैं मंत्रों का आशय जिस ने दिव्य दृष्टि से जान लिया उसको उन मंत्रों का ऋषि कहते हैं, इस सूक्त का "गायत्री" छन्द है, गायत्री छन्द के तीन चरण होते हैं और प्रति चरण में आठ आठ अक्षर होते हैं

अर्थात प्रति मंत्र के चौवीस अक्षर होते हैं अस्तु, इस सूक्तका "अग्निमीळे" यह प्रथम मंत्र है इस का पदछेद, अन्वय, टीका, शब्दार्थ, भावार्थ स्पष्टी करण तुमको मैं क्रमशः बता देता हूं, ध्यान पूर्वक सुनो—

॥ ओ३म् ॥

ऋग्वेदीय

अग्नि—सूक्तम् ।

(ऋषि—मधुछन्दाः ॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—गायत्री) ॥

॥ मन्त्र ॥

अग्नि मीळे पुरोहितं यज्ञस्य देव-मृत्विजम् । होतारं रत्नधातमम् ॥१॥

पदपाठः—अग्निम् । ईळे । पुरः+हितम् । यज्ञस्य । देवम् । ऋत्विजम् (ऋतु+इजम्) । होतारम् रत्नधातमम् (रत्न+धा+तमम्) ॥

अन्वयः--पुरोहितं यज्ञस्य देवं ऋत्विजं होतारं रत्नधातमं अग्निं ईडे ॥

टीका—पुरोहितं सर्वेषां पुरः अग्रे हितं स्थितं विद्यमानं यज्ञस्य संपूर्णस्य अध्वरस्य देवं प्रकाशकं ऋत्विजं ऋतुभिः यजति तं होतारं दातारं। हु दानादानयोः। रत्नधातमं रत्नानां रमणीयानां पदार्थानां अतिशयेन धारण कर्तारं अग्निं। अग्निः कस्मादग्रणीर्भवति इति निरुक्तम्। अग्रणिं परमेश्वरं ईडे स्तौमि ॥

अर्थः--जो (पुरोहितं) सब के अग्रभाग में विद्यमान है, (यज्ञस्यदेवं) सर्व प्रकार के यज्ञादि कर्मों का प्रकाशक, (ऋत्विजं) ऋतुओं से यज्ञ करने वाला, (होतारं) दाता, तथा (रत्नधातम्) रमणीय पदार्थों का धारण करने वाला है, उस (अग्नि) अग्रणी परमेश्वर की मैं (ईडे) स्तुति करता हूं ॥

भावार्थ—परमेश्वर सर्वत्र विद्यमान, सत्यज्ञान तथा सत्य कर्मों का उपदेशक, वसतादि ऋतुओं का उत्पादक, सब सुखों का दाता तथा सब उत्कृष्ट

पदार्थों का धारक है, उसी एक ईश्वर की स्तुति करना चाहिये ॥

-:०:—

स्पष्टीकरण

शिष्य प्रश्न पूछता है:—हे गुरू जी महाराज! इस वेद मंत्र का अर्थ श्रवण करके मेरा अंतःकरण प्रसन्न होता है, इस मंत्र के विषय में कुछ प्रश्न मैं पूछना चाहता हूं, आशा है कि आप मेरा समाधान करके मुझे कृतार्थ करेंगे ॥

गुरू जी महाराज उत्तर देते हैं:—हे शिष्य तुम्हारी भक्ति तथा श्रद्धा देख कर मुझे आनन्द हुआ है, तुम्हारे मन में जो कुछ शंकायें आतीं हैं, सब पूछो, जहां तक मेरी शक्ति है वहां तक प्रयत्न करके मैं तुम्हारा समाधान करूंगा, परन्तु यह ध्यान में रखो कि वेद का संपूर्ण गंभीर आशय हमारे जैसे अल्पज्ञ लोग नहीं जान सकते हैं, तथापि जितना मैं जानता हूं उतना तुम को समझा दूंगा, तुम भी विचार करते

रहो, विचार करने से वेद के अर्थ मन में स्वयं खुल आयंगे, अस्तु अब अपनी शंकायें पूछो ॥

शिष्य--इस मंत्र में "पुरोहितं" शब्द आया है उस का ठीक अर्थ मेरे ध्यान में नहीं आया, कृपा करके उस का अर्थ स्पष्ट कीजिए ॥

गुरुजी--इस मंत्र में "पुरोहितं" शब्द "अग्नि" का विशेषण है। अग्नि शब्द से यहां परमेश्वर का ग्रहण होता है। अर्थात "पुरोहितं" शब्द से परमेश्वर का एक विशेष गुण बतलाया है। "पुरोहितं" शब्द में "पुरः + हितं" ऐसे दो शब्द हैं। इन दोनों शब्दों का अर्थ प्रथम देखो:—

पुरः=पुरस्ताद, अग्रभाग में, आगे, सामने।

हितं=रहा हुवा, स्थित, हितकारक ॥

इन दो शब्दों के अर्थों को मिलाने से "पुरोहित" शब्द का अर्थ खुल जाता है, अब तुम्हारे ध्यान में आया होगा, कि उसका अर्थ "अग्र भाग में स्थित" ऐसा होता है, अर्थात "परमेश्वर भक्त के सन्मुख

अथवा समीप सर्वदा स्थित है" यह अर्थ इस पद से ज्ञात होता है, उपासक लोग कहीं भी चले जावें भक्त लोग कहीं भी उनकी भक्ति करें, वहां उनके पास ही वह परमेश्वर रहता है॥

शिष्य--यह किस प्रकार संभवनीय हो सकता है? जहां भक्त जायेंगे क्या वहां परमेश्वर चला जायगा?

गुरु—हे शिष्य! तुमने उत्तम प्रश्न किया, यहां तुमको एक बात का ध्यान रखना चाहिये, देखो, परमेश्वर सब स्थान पर विद्यमान है, इस कारण उसको उ ाना आना आवश्यक नहीं, जहां भक्त चले जायंगे वहां पहिले से ही वह विद्यमान है, जिस प्रकार सामने रखा हुवा कोई पदार्थ स्पष्ट विदित होता है, उसी प्रकार भक्तों को परमेश्वर सर्वत्र प्रत्यक्ष होता है, इस लिये उनको "पुरोहित" कहा है।

शिष्य—गुरु जी कृपा करके कोई उदाहरण लेकर मुझे समझा दीजिये॥

गुरू—परमेश्वर के विषय में पूर्ण अंश में उदाहरण नहीं मिल सकता है, परन्तु तुम्हारी कलपना होने के लिये मैं एक उदाहरण देता हूं, देखो वायु को तो तुम जानते हो वह वायु तुम्हारे चारों ओर विद्यमान है, तुम इस पृथ्वी पर जहां घूमोगे वहां तुम्हारे चारों ओर वायु रहेगा, तुम्हारे स्थानांतर करने से वायु को घूमना नहीं पड़ता है, इसका हेतु तुम्हारे ध्यान में अया होगा ?

शिष्य—हां गुरू जी मेरे ध्यान में आया है, वायु पहिले से ही सब स्थान पर विद्यमान रहने से हम को सब स्थान पर प्राप्त होता है, इसी प्रकार परमेश्वर सब स्थान पर विद्यमान होने से भक्तों को सब स्थान पर प्रत्यक्ष होता है ॥

गुरू—ठीक है, अब तुम्हारे ध्यान में आया परन्तु एक बात ध्यान में रखो कि, परमेश्वर सब स्थान पर पूर्णतया व्याप्त है उस प्रकार और कोई भी पदार्थ व्यापक नहीं है, अस्तु यदि इसका ज्ञान तुम्हारे मन

में होगा तब "पुरोहित" शब्द का अर्थ तुम जान सकोगे ॥

शिष्य—गुरुजी! अब मैंने जान लिया, "पुरोहित" शब्द का अर्थ "सब के सामने उपस्थित" ऐसा है। इसी शब्द से परमेश्वर की सर्वव्यापकता भी सिद्ध हो सकती है, अस्तु। अब मुझे समझा दीजिये कि "यज्ञस्य देवं" यह दो शब्द क्या क्या अर्थ बतलाते हैं?

गुरु—"यज्ञस्य देवं" इन दो शब्दों के बहुत ही गम्भीर अर्थ हैं। इन के अर्थों का पूर्णतया विचार करने के लिये बहुत ही समय लगेगा। परन्तु सारांश रूप से मैं तुम को समझा देता हूं। देखो पहिले इन दो शब्दों के अर्थः—

यज्ञ=याग, हवन, दान, कर्म,

देवः=प्रकाशक, दाता, विद्वान, ज्ञानी।

इन दो शब्दों के अर्थों को मिलाने से "यज्ञस्य देवं" शब्द का अर्थ जान सकते हैं। "यज्ञयागादि

कर्मों का प्रकाशक " ऐसा इन पदों का अर्थ होता है "यज्ञ" शब्द सम्पूर्ण सत्कर्मों का बोधक है । तथा श्रीमद्भागवद्गीता में यज्ञ के अनेक भेद वर्णन किये हैं, "द्रव्य यज्ञ, तपो यज्ञ, ज्ञान यज्ञ, स्वाध्याय यज्ञ" इत्यादि अनेक प्रकार के यज्ञ हैं, द्रव्य का सत्कर्म में दान करने से द्रव्य यज्ञ सिद्ध होता है, अधर्म को छोड़ धर्म का अनुष्ठान करने से तपो यज्ञ होता है, ज्ञान का उपदेश करने से ज्ञान यज्ञ बनता है, वेदादि शास्त्रों का अध्ययन करने से स्वाध्याय यज्ञ होता है, जितने अच्छे कार्य हैं, वे सब यज्ञ ही हैं, जिन कार्यों में "सत्कार, संगति, तथा दान" होता है उन सब सत्कृत्यों को *यज्ञ कहते हैं, इन सब सत्कृत्यों का प्रकाशक अर्थात् ज्ञान दाता होने से परमेश्वर को "यज्ञ का देव" कहा है ॥

शिष्य--"देव" शब्द का "दाता" अर्थ कैसे होता है ॥

* यज्--देव पूजा संगति करण दानेषु ॥

गुरू--हे सत् शिष्य ! सुनो ! *"देव" शब्द के अनेक अर्थ हैं, निरुक्त में इस के अर्थ "दाता और प्रकाशक" ऐसे दो हैं, इस शब्द का धातु देखने से इस के कई अर्थ प्रतीत होते हैं, उन सब का यहां विचार कर्तव्य नहीं उस का "प्रकाश देना" ऐसा जो अर्थ है उस का विशेष कर यहां सम्बन्ध है, परमेश्वर सब विद्याओं का प्रकाशक, सूर्यचंद्रादिकों को प्रकाश देने वाला होने से उस में "देव" शब्द का प्रयोग सार्थ होता है ॥

शिष्य--गुरू जी ! आप का कथन ठीक ही प्रतीत होता है, सब सत्यज्ञान का प्रकाश कर्ता उस दयाधन परमात्मा के सिवाय अन्य कोई भी नहीं हो सकता है, इसी लिये सब गुरूओं का भी गुरू वही है, इस सृष्टी में सूर्यचंद्रादि गोलों की रचना करके उस परमेश्वर ने हमारे ऊपर अपार

* दिवु—क्रीड़ा विजिगीषा व्यवहार द्युति स्तुति मोद मद स्वपन कांति गतिषु ॥

दया की वृष्टी की है, इन सब बातों का विचार इस "देव", शब्द को देख कर मेरे अंतःकरण में आने लगा है, अहाहा ! कैसी उत्तम रचना वेद में है कि जहां एक २ शब्द में इतने गूढ़ अर्थ भरे हैं, अस्तु अब मुझे कहिये कि "ऋत्विजं" शब्द क्या क्या अर्थ बतलाता है ?

गुरु—हे शिष्य ! जो शुद्ध अंतःकरण करके भक्ति पूर्वक वेदों के अर्थों का विचार करता है, उस के मन में मंत्र का गंभीर आशय प्रकट होता है, तुमारे मन में भक्ति है इस लिये तुम इस के ज्ञान के आनंद को अनुभव कर सकते हो, भक्ति हीन पुरुषों के मन में इस आनन्द का अनुभव होना अशक्य है, अस्तु तुम ने "ऋत्विजं" शब्द का अर्थ जानने की इच्छा प्रकट की है, इस शब्द में "ऋतु, इजं" यह दो शब्द हैं, वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमंत तथा शिशिर यह छे ऋतु इस पृथ्वी पर आते हैं और मनुष्यों को सुख देते हैं, हर एक ऋतु का खास कार्य होता है, तथा हर एक ऋतु मनुष्य को सुख

देता है, इन ऋतुओं के द्वारा परमेश्वर यजन (इज) करता है, इस लिये परमेश्वर का नाम "ऋत्विज". है ॥

शिष्य--गुरु जी ! यहां एक शंका उत्पन्न हुई है, आप ने कहा कि परमेश्वर ऋतुओं के द्वारा यज्ञ करता है, कृपा करके उस के यज्ञ का थोड़ा सा स्वरूप तो कहीये ॥

गुरु--देखो ! जैसा मैं कहूंगा वैसी ही तुम कल्पना करोगे तो परमेश्वर के यज्ञ की कल्पना तुमारे मन में ठीक आ जायगी, जो संपूर्ण ब्रह्मांड है या विश्व है यह एक महान् यज्ञ शाला है, उस में परमेश्वर यजमान है, प्रकृति यजमान पत्नी है, अग्नि होता है, वायु अध्वर्यु है, सूर्य उद्गाता है, चंद्रमा (या सोम)ब्रह्मा है, इंद्र, मरुत् तथा अन्य देवता अन्य ऋत्विग्गण हैं, संपूर्ण नक्षत्रसमूह सदस्य हैं, इस महान् यज्ञ में वसंत[1] ऋतु यह घृत है, ग्रीष्म ऋतु

---

(१) यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञ मतन्वत ॥ वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः ॥ ऋ० १० । ९० ॥

समिधा है, वर्षा ऋतु परिसिंचन का उदक है ॥ शरद् ऋतु हवन सामग्री है, तथा अन्य ऋतु अन्य साधन हैं, इन ऋतुओं का हवन अग्न्यादि देवतायें करतीं हैं, और इस महान यज्ञ द्वारा संपूर्ण जीव सृष्टि पर बड़ा उपकार होता है ॥

शिष्य--इस सृष्टि रूपी यज्ञ करने का उद्देश क्या है ?

गुरू--इस महान यज्ञ करने में परमेश्वर का उद्देश केवल परोपकार है, संपूर्ण जीवात्माओं का परमेश्वर मित्र है, मित्रत्व की दृष्टि से संपूर्ण जीवों को सहाय करना यही उस का उद्देश है, जैसा परमेश्वर ने केवल जीवों के हित के लिये यह महान् यज्ञ चलाया है, उसी प्रकार मनुष्यों को भी परोपकार के लिये नाना प्रकार के द्रव्ययज्ञ, तपो यज्ञ, ज्ञान यज्ञ

यजु ३१ । १४ ॥ (पुरुष रूपी हविर्द्रव्य से अग्न्यादि देव जिस यज्ञ को करते थे, उस में वसन्त घृत था, ग्रीष्म समिधा तथा शरद हवि था) ॥

करने चाहिये, परमेश्वर स्वयं यज्ञ करके दूसरों को उपदेश दे रहा है कि भाई तुम भी मेरा अनुकरण करो, अस्तु ॥

शिष्य--गुरू जी! इस यज्ञ को जानने से एक बड़ा उपदेश मुझे मिला है, निष्काम भाव से जिस प्रकार परमेश्वर के सर्व कार्य होते हैं, केवल परोपकार के लिये जिस प्रकार परमेश्वर यह महान सृष्टि का कार्य कर रहा है, उसी प्रकार परोपकार का आदर्श दृष्टि के सामने रख कर हम को भी आलस्य तथा स्वार्थ छोड़ कर सत्कार्य करने चाहिये ॥

गुरू--तुम ने ठीक जान लिया इसी प्रकार विचार करते रहोगे तो इसी मंत्र से तुम को अमूल्य उपदेश मिलता जायगा, अब और कुछ पूछना होगा तो पूछ लो ॥

शिष्य--गुरू जी महाराज! आप का स्पष्टी करण श्रवण करने से "होतारं" शब्द का भी अर्थ मेरे ध्यान में आने लगा है, परमेश्वर इस महान यज्ञ

को करता है, और वसंतादिकों का हवन करता है इसी कारण उस को "होता" कहते होंगे ॥

गुरु—तुम्हारा तर्क ठीक है "होता" शब्द का और भी अर्थ है "होता" शब्द "हु" धातु से बनता है, और उस के अर्थ "दान तथा आदान (स्वीकार)" ऐसे दो हैं, इन अर्थों की ओर देखने से "होता" शब्द के दो अर्थ होते हैं, (१) दाता (२) स्वीकर्ता सृष्टी के प्रारंभ में संपूर्ण पदार्थों का दान जीवात्माओं के लिये करता है इस लिये उस को दाता कहते हैं, और सृष्टी के अंत में सब सृष्टी का अपने में स्वीकार करता है इस लिये उस को आदाता कहते हैं, ये दोनों अर्थ "होता" इस एकही पद में विद्यमान हैं, इन का विचार करने से तुम जान सकोगे कि परमेश्वर को "होता" क्यों कहा गया है ॥

शिष्य—"होता" शब्द के विषय में अब शंका नहीं रही है, परन्तु "रत्नधातमं" शब्द का ठीक बोध अब तक नहीं हुआ कृपा करके स्पष्टी करण कीजिये ॥

गुरु०—"रत्नधातमं" शब्द में "रत्न+धा+तमं" ऐसे तीन शब्द हैं, इन तीनों के अर्थ देखो:—

रत्न=रमणीय पदार्थ,

धा=धारण करना, दान करना.

तम=अतिशय, अत्यन्त.

इन शब्दों के अर्थों को मिलाने से अर्थ स्पष्ट होता है, "रमणीय पदार्थों को अत्यन्त पूर्णता से धारण करने वाला" ऐसा इस पद का अर्थ है. इस सृष्टी में सूर्य चन्द्रमादि नाना प्रकार के रमणीय पदार्थ हैं, उन को यथावत धारण करने वाला परमेश्वर ही है इस पद का "रमणीय पदार्थों का बहुत प्रकार से दान करने वाला" ऐसा भी अर्थ होता है, भक्तों को तथा उपासकों को नाना विध उत्तम पदार्थ पहुंचाता है, सब जीवों को यथा योग्य आवश्यक पदार्थों को देता है, परमेश्वर की कृपा से ही संपूर्ण ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं इस बात को ध्यान में लाने से "रत्नधातमं" शब्द का अर्थ स्पष्ट होगा ॥

शिष्य—आपने जो विचार कहे हैं उसी के अनुसार मैं विचार करता रहूंगा, मेरे बहुत विचार करने पर भी मेरे ध्यान में यह बात नहीं आती है कि इस मंत्र मे "अग्नी" शब्द से परमेश्वर का ग्रहण आपने क्यों किया कृपा कर के इस संदेह की निवृत्ति कीजिये॥

गुरु०—निरुक्तकार यास्काचार्य ने "अग्नि शब्द का "अग्रणी" अर्थ दिया हुवा है, इस विश्व में सत्य रीती से देखा जाय तो परमेश्वर ही सब का अग्रणी है, जो सब से श्रेष्ट होता है, वही अग्रणी होता है परमेश्वर सर्व श्रेष्ट तथा सब को चलाने वाला होने से वही सच्चा अग्रणी है, दूसरा प्रमाण यह है कि वेद में हि एक स्थान पर कहा है "इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, सुपर्ण गुरुत्मान इत्यादि नाम उस एक ही ईश्वर के है" (ऋ० १।१६४।४६) इस मंत्र में अग्नि शब्द सुस्पष्ट रीती से परमेश्वर का वाचक आया है, तीसरा प्रमाण यह है कि, "अग" धातु से "अग्नि" शब्द बनता है, "अग" धातु के "ज्ञान, गति, प्राप्ति" यह

तीन अर्थ प्रसिद्ध हैं परमेश्वर ज्ञेय है, वही गति देने वाला अर्थात् सब का चालक है, और वही प्राप्तव्य है अर्थात् अग्नि शब्द के तीनों यौगिक अर्थ पूर्णरीत्या परमेश्वर में हि घटते हैं इस लिये अग्नि शब्द से परमेश्वर का ग्रहण होता है, इस प्रकार विचार करने से तुमारे ध्यान में आजायगा कि क्यों अग्नि शब्द से परमेश्वर का ग्रहण किया है ॥

शिष्य—हां गुरु जी ! मेरे ध्यान में आया और भी एक विचार मेरे मन में आया है अग्नि में प्रकाश है वह प्रकाश भी परमेश्वर में पूर्ण है, अग्नि में शुद्ध करने का गुण है वह भी परमेश्वर में पूर्णतया है, अग्नि अंधेरे का नाश करता है उसी प्रकार परमेश्वर प्राप्ती से अज्ञानांधकार नष्ट होता है, तात्पर्य जो तीन गुण अल्पांश से अग्नी में दीखते हैं वही तीन गुण पूर्णतया परमेश्वर में रहते हैं, इसी कारण अग्नि शब्द भी पूर्णतया परमेश्वर का वाचक होना चाहिये और गौणतया भौतिक अग्नि का वाचक होगा ॥

गुरु०—तुम ने अच्छा विचार किया ऐसा ही विचार करते रहना चाहिये अब विचार करके कहो कि इस मंत्र से तुम को क्या क्या ज्ञान प्राप्त हुआ॥

शिष्य—गुरुजी ! इस मंत्र के विचार करने से तो मुझे परमेश्वर के कई गुणों का ज्ञान हुवा (१) परमेश्वर सर्वत्र व्यापक है तथा सब का हितकर्ता है यह ज्ञान मुझे "पुरोहित" शब्द से मिला (२) वही सत्कर्म तथा सत्य ज्ञान का प्रकाशक है यह ज्ञान मुझे "यज्ञस्य देवं" इन शब्दों से हुवा, (३) वसंतादि ऋतुओं का वही उत्पादक है ऐसा मैंने "ऋत्विज" शब्द से जान लिया, (४) संसार भर की चीजें मनुष्यों के लिये उनों ने दी हैं ऐसा ज्ञान मुझे "होतारं" शब्द से हुवा (५) संपूर्ण रमणीय विश्व का धारण कर्ता तथा रत्नादि श्रेष्ट पदार्थों का दाता वही है ऐसा मैंने "रत्नधातमं" शब्द से जान लिया, (६) ज्ञान, तेज, शुद्धता इत्यादि उच्च गुणों का मूल वही है ऐसा मैंने "अग्नि" शब्द से ज्ञात किया (६) इसी सर्व व्यापक, ज्ञान कर्म प्रकाशक, सुखदाता, सृष्टी का

अधार परम पवित्र परमेश्वर की हमें स्तुति प्रार्थना उपासना करनी चाहिये ऐसा मेरा निश्चय हुआ है, गुरु जी! इस प्रकार मैंने विचार किया है, यदि कुछ इसमें न्यूनता हो तो कृपया कहिये॥

गुरु—तुम्हारा विचार ठीक है, पहिला मंत्र तुमने ठीक जान लिया, अब दूसरा मंत्र देखो :—

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत। स देवाँ एह वक्षति॥ २॥

पद०—अग्निः। पूर्वेभिः। ऋषिभिः। ईड्यः। नूतनैः। उत। सः। देवान्। आ। इह। वक्षति (वहति)॥

अन्वयः—पूर्वेभिः ऋषिभिः उत नूतनैः अग्निः ईड्यः। इह सः देवान् आवहति॥

टीका—पूर्वेभिः पूर्णैभिः प्राचीनैर्वा ऋषिभिः अतीन्द्रियार्थ दर्शिभिः उत अपि च नूतनैः नवीनैः

अग्निः परमेश्वरः ईड्यः स्तुत्यः । इह अस्मिन्संसारे सः परमेश्वरः देवान् अग्नि वायुसूर्यादीन् आ समंताद् वक्षति वहति ॥

अर्थः—(पूर्वेभिः) प्राचीन (ऋषिभिः) ऋषियों से (उत) तथा (नूतनैः) नवीनों से (अग्निः) परमेश्वर (ईड्यः) स्तुति करने योग्य है, (इह) इस संसार में (सः) वह ईश्वर (देवान्) अग्नि वायु सूर्य आदि देवताओं को (आ+वक्षति) (आ+वहति) सब प्रकार से सहारा देता है ॥

भावार्थ—प्राचीन तथा अर्वाचीन, पूर्ण तथा अपूर्ण विद्वानों से परमेश्वर स्तुति करने योग्य है, इस संसार में जो कुछ पदार्थ मात्र है उन सब को वह आधार देता है ॥

स्पष्टी करण ।

शिष्य—इस मंत्र में प्राचीन तथा अर्वाचीन ऋषियों से क्या विशेष बात कही वह मेरे ध्यान में नहीं आई कृपया स्पष्ट कीजिये ॥

गुरु—"पूर्वेभिः ऋषिभिः"[१] इन दो शब्दों का प्रसिद्ध अर्थ "प्राचीन ऋषी" ऐसा होता है, परन्तु "पूर्व" शब्द का जैसा "पूर्वकालीन, प्राचीन" ऐसा अर्थ है वैसा "पूर्ण" ऐसा भी अर्थ है, अर्थात् "पूर्वेभिः ऋषिभिः" इन दो पदों का अर्थ "प्राचीन विद्वान्, तथा पूर्ण विद्वान्" ऐसा होता है, जैसी पूर्ण विद्वानों को परमेश्वर की उपासना करनी चाहिये उसी प्रकार जो पूर्ण नहीं हुवे हैं उन्होंको भी उपासना करनी चाहिये, अर्थात् पूर्ण तथा अपूर्ण विद्वानों के लिये परमेश्वर समानतया उपास्य है तथा स्तुति करने योग्य है, मनुष्य कितना भी उच्च हुआ, कितना योगी, मुनी, अथवा ऋषि हुवा तो भी स्वभावतः अल्पज्ञ होने से परमेश्वर के सन्मुख उपासक ही रहता है, यह भाव इस मंत्र के पूर्वार्ध से प्राप्त होता है ॥

---

(१) पूर्व—पूरणे (पूर्वधातु का अर्थ पूरण, पूर्ण, ऐसा है) इस धातु से "पूर्व" शब्द बनता है ॥

शिष्य—आज कल के वेदांती लोग कहते हैं कि मनुष्य ब्रह्म है, और पूर्ण ज्ञानी होने के पश्चात् उपासनादि करने की आवश्यकता नहीं है, उसका तो इस मंत्र मे खंडन हुवा है ॥

गुरु०—तुमने ठीक समझ लिया, उस मत का इस मंत्र के आशय से खंडन होता है, मनुष्य को "मैं ब्रह्म हुं" यह भावना रख कर, उपासनादि न करके, अपनी हानि करानी उचित नहीं परन्तु मन में यह समझना चाहिये कि मनुष्य ऋषि पदवी तक पहुंचने पर भी परमेश्वर का उपासक ही रहता है, और उस समय भी उपासना से ही शांति का अनुभव करता है ॥

शिष्य—इस मंत्र में "पूर्व" शब्द के साथ "ऋषि" पद रखा है, परंतु "नूतन" शब्द के साथ नहीं, इसका क्या तात्पर्य है ?

गुरु—इस में बड़ा भारी उपदेश है, देखो जो मनुष्य पूर्ण होते हैं वे ऋषी बनते हैं, वे योगी और

मुनी बन जाते हैं, परंतु उस अवस्था तक जो नहीं पहुंचे हैं वे मनुष्य "नूतन" अर्थात् "नवीन" कहलाते हैं, उनमें ऋषि बनने की संभावना है, परन्तु वे ऋषी बने नहीं हैं हर एक मनुष्य पुरुषार्थ से ऋषी, मुनी, योगी होसकता है, पहिले से ही कोई ऋषी नहीं होता, परंतु ऋषियों का जीवन लाने से हर एक जन ऋषी होसकता है, इसी उद्देश से "नूतन" शब्द के साथ "ऋषी" शब्द का प्रयोग नहीं किया है, परंतु वहां पूर्व से अनुवृत्ति ऋषी पदकी आसकती है, इस अनुवृति का आशय यह है कि (नूतन) नवीनों में ऋषित्व आता है परंतु वह पूर्व प्राचीन ऋषियों से अनुश्रुत होकर आता है॥

शिष्य—गुरु जी ! आपके कथनानुसार पाया जाता है कि वेद का प्रत्येक शब्द विशेष महत्व का है, तथा शब्दों की व्यवस्था भी महत्व की है, आपने अनुवृत्ति का महत्व यहां बतला दिया है, क्या ऐसा करना खेंचतान नहीं है ?

गुरु—जो वैदिक शब्दों की व्यवस्था भली भांति नहीं जानते वे इस प्रकार को खेंचतान ही बोलते हैं, परंतु जिन्होंने उस व्यवस्था से परिचय किया है तथा शब्दों का महत्त्व जो जानते हैं वे ऐसा कभी भी नहीं कह सकते हैं, और तुम देखते हो कि हर एक शब्द का जो प्रयोग हुआ है वह विशेष अर्थ के लिये ही है, यदि वह अर्थ नहीं देखा जायगा तो अध्ययन किस बात का करना होता है? वेद का शब्द गौरव देख कर मनुष्यों को यही उपदेश लेना चाहिये कि, हरएक शब्द विचार पूर्वक योग्य रीती से प्रयुक्त करना चाहीये निरर्थक शब्द प्रयोग करके मूर्खों के समान अर्थहीन बातें करनी किसीको भी उचित नहीं ॥

शिष्य—गुरू जी महाराज आपका कथन ठीक है, मैंने आपके कथन को खेंचतान कहा इस विषय में आप मुझे क्षमा कीजिये, मैं ऐसा आगे नहीं कहूंगा, और मैं भी शब्द के गौरव का विचार करता रहूंगा, इस मंत्र के उत्तरार्धका विचार कीजिये ॥

गुरु—इस मंत्र के उत्तरार्ध में "स देवान् इह आवहति" 'इस संसार में वह ईश्वर सूर्यादि देवों को सब प्रकार से प्राप्त करता है" इस बात का कथन है, सूर्य, चंद्र, तारागण, वायु, अग्नि आदि अनेक देव इस संसार में हैं, वह उसी की कृपा से आये हुवे हैं, उसी के नियम से अग्नि और सूर्य प्रकाशमान होते हैं, वायु सुख देने वाला उसी की कृपा से होता है, इसी प्रकार अन्यान्य देव भी उसी की आज्ञा का पालन करते हैं, वही इनको इस संसार में लाता है, इस संसाररूपी महान् यज्ञ में वह परमेश्वर अग्न्यादि देवों को लाकर मनुष्यों को सहाय्य करता है, अग्न्यादि को लाने वाला भी वही है तथा उनका आधार भी वही है, इतना द्वितीय मंत्र का विचार तुमने सुना, अब कहो कि इस मंत्र से तुमने क्या ज्ञान प्राप्त किया?

शिष्य—इस मंत्र से दो बातों का ज्ञान मुझे मिला है. (१) छोटे बड़े, विद्वान् अविद्वान, प्राचीन अर्वाचीन, इत्यादि सब लोगों को उचित है कि वे

सब इसी एक ईश्वर की उपासना करें,(२) दूसरा ज्ञान यह है कि उसी परमेश्वर ने सृष्टि के अंतर्गत अग्न्यादि सब पदार्थ बनाये हैं, और वही उन सबका आधार है ॥

गुरु—ठीक है तुमने ठीक जान लिया है, पहिले मंत्र में जिस परमेश्वर का वर्णन किया, वही स्तुति के योग्य है ऐसा दूसरे मंत्र में कहा है, यह परस्पर संबंध भी तुम ध्यान में रखो अब तीसरा मंत्र देखोः—

अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवे दिवे । यशसं वीरवत्तमम् ॥ ३ ॥

पद०—अग्निना । रयिम् । अश्नवत् । पोषम् । एव । दिवे । दिवे । यशसम् । वीर वत्तमम् ॥

अन्वयः—पोषं यशसं वीरवत्तमं रयिं अग्निना एव दिवे दिवे अश्नवत ॥

टीका—पोषं वर्धमानं यशसं यशोयुक्तं वीरवत्तमं अतिशयेन वीर्ये युक्त रयिं धनं अग्निना परमेश्वरेणैव दिवे दिवे प्रतिदिनं मनुष्यः अश्नवत् प्राप्नोति ॥

अर्थ—(पोषं) पुष्टी देने वाला तथा बढ़ने वाला (यशसं) सत्कीर्ति की वृद्धि करने वाला (वीरवत्तमं) अत्यन्त शूर पुरुषों के साथ रहने वाला (रयिं) धन (अग्निना) परमेश्वर से (एव) ही (दिवे दिवे) प्रतिदिन मनुष्य को (अश्नवत्) प्राप्त होता है ॥

भावार्थ—परमेश्वर की उपासना करने से ही मनुष्य उस श्रेष्ठ धन को प्राप्त कर सकता है कि जो धन सर्वदा वृद्धि को प्राप्त होने वाला यश की वृद्धि करने वाला तथा शूर पुरुषों के साथ रहने वाला है ॥

स्पष्टी करण ॥

शिष्य—इस मंत्र में धन के तीन विशेषण आये हैं इनका हेतु क्या है ॥

गुरु—हे शिष्य ! तुम को पहिले यह देखना चाहिये कि इस मंत्र में मुख्यतया क्या कहा है, यदि तुमने इस मंत्र का शब्दार्थ जान लिया है तो कहो इस मंत्र में मुख्य कथन किस बात का है ?

शिष्य—इस मंत्र में यह कहा है कि, "मनुष्य को परमेश्वर से ही धन प्राप्त होता है॥"

गुरु—यहां प्रथमतः "रयि" शब्द का अर्थ देखना चाहिये, "रयि" शब्द का धन ऐसा अर्थ है इस में संदेह नहीं परन्तु धन शब्द से या रयि शब्द से क्या रुपयों का आशय है या और किसी का, इन बातों का विचार होना चाहिये पैसा एक प्रकार का धन है इस में संदेह नहीं परन्तु वह पूर्ण धन नहीं है, जब तक जिस राजा का रुपया चलता है तब तक उस में धन शब्द प्रयुक्त होता है उस रुपये का मूल्य कम होने पर उस में से धन शब्द चला जाता है इस से तुमारे ध्यान में आजायगा कि पैसा में धन शब्द गौण है, ज्ञान संपत्ति, शरीर संपत्ति, तपोधन, विद्या धन, यशोधन यह सत्य धन हैं ज्ञान, बल आरोग्य

तप,यश,सुख,यह सब "रयि" शब्द से लिये जाते हैं, और इस प्रकार का चिरकालिक धन परमेश्वर से प्राप्त होता है रुपये प्राप्त होने यह पूर्वोक्त ज्ञानादिकों का परिणाम है तात्पर्य्य "रयि" शब्द से ज्ञानादि शुद्ध तथा पूर्ण धनों का भाव जान लो तब मंत्र आशय तुमारे ध्यान में आजायगा ॥

शिष्य—अब मैं समझ गया हूं, परमेश्वर ज्ञान, तेज, वीर्य, शौर्य, बल, ओज इत्यादि गुणों का आशय है इस लिये इन गुणों की प्राप्ती उसी से हो सकती है और इन्ही गुणों को सच्चा धन कह सकते हैं, अर्थात् "ज्ञानादि" धन परमेश्वर से ही मनुष्य को प्राप्त होते हैं" ऐसा इस मंत्र का मुख्य आशय हुआ अब फिर मेरे मन में शंका आती है कि इस प्रकार के धन के "पोषं,यशसं,वीरवत्तमं" यह तीन विशेषण क्यों है ?

गुरु ०—हे सच्छिष्य! देखो! "पोषं शब्द का अर्थ पुष्ट होने वाला, वृद्धी को प्राप्त होने वाला, बढ़ने वाला" ऐसा है. ज्ञान धन वृद्धी को प्राप्त होने

वाला है, विद्या दान करने से बढ़ती है इसी प्रकार बल आरोग्यादि धनों के विषय मे जानलो ज्ञानादि धन यशो रूप हैं, यश को बढाने वाले हैं, कीर्ति की वृद्धि करने वाले है यह बात स्पष्ट है, इसी लिये उन को 'यशसं" कहा है,जो कीर्ति को घटाने वाला होता है उस को धन नहीं कहते हैं ॥ "वीरवत्तमं"

यह धन का विशेषण बहुत ही गंभीरार्थ द्योतक है. "वीर+ वत्+तम" ऐसे तीन शब्द इस शब्द में है इन के अर्थ —

वीर—शूर, धीर पुरुष.

वत्—युक्त

तम—अत्यन्त.

ऐसे हैं. इन को जोड़ने से "अत्यन्त शूर पुरुषों के साथ रहने वाला" ऐसा "वीर वत्तमं" शब्द का अर्थ हुआ अर्थात् धन इस प्रकार का चाहिये कि जिस के साथ "शौर्य, धैर्य, वीर्य" इत्यादि गुण रहते हों, ज्ञान धन ऐसा है कि जिस के साथ धैर्य गुण रहता

है, जिससे आत्मिक बल नहीं आता है उस को सच्चा ज्ञान नहीं कहना चाहिये, किसी प्रकार का धन हो उस का तेज उस समय पड़ सकता है कि जिस समय शौर्य, वीर्य तथा धैर्य उस के साथ हो, अशक्त, भीरु, तथा धैर्य हीन जो पुरुष होते हैं, उन को धन प्राप्त नहीं हो सकता है, और प्राप्त होने पर रह नहीं सकता है, तो बढ़ने की बात कहां ? इन बातों का विचार करने से यह तीनों विशेषण धन के लिये क्यों रखे हैं इसका आशय तुमारे मन में आ सकता है ॥

शिष्य—अब मेरे ध्यान में आया है कि मनुष्य की उन्नति के लिये इस प्रकार के धन की आवश्यकता है कि जो धन बढ़ने वाला, कीर्ति को बढ़ाने वाला तथा शौर्य के साथ रहने वाला हो, इस प्रकार के सब धनों की प्राप्ती परमेश्वर की उपासना से हि होती है, यह इस मंत्र का आशय है ॥

गुरु—वाह वाह ! तुम ने ठीक जान लिया. अब तुम को चतुर्थ मंत्र का अर्थ बतलाता हूं:—

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परि-

भूरसि स इद्देवेषु गच्छति ॥ ४ ॥

पद०—अग्ने। यं। यज्ञम्। अध्वरम् (अ+ध्वरम्)

विश्वतः। परिभूः (परि+भूः)। असि। सः। इत्।

देवेषु। गच्छति॥

अन्वयः—(हे) अग्ने! यं अध्वरं यज्ञं विश्वतः परिभूः असि सः इत् देवेषु गच्छति॥

टीका—हे अग्ने परमात्मन्! यं अध्वरं ध्वरा हिंसा तद्रहितं यज्ञं कर्म तस्य विश्वतः सर्वतः परिभूः परितः सर्वतः भूः उत्पादको ऽसि। स यज्ञः तत्तत्कर्म देवेषु वह्निवायुसूर्यादिदेवतासु गच्छति प्राप्नोति उपलभ्यते॥

अर्थ—हे (अग्ने) परमात्मन्! (यं) जिस (अ+ध्वरं) हिंसा रहित (यज्ञं) कर्म के (विश्वतः) सब प्रकार से (परिभूः) उत्पन्न करने वाले (असि) आप हैं। (सः) वह तुमारा कर्म (इत्) निश्चय से (देवेषु) सूर्य चंद्रादि देवताओं में (गच्छति) जाता है, प्राप्त होता है उपलब्ध होता है॥

भावार्थ-—जिस सुखमय हिंसा रहित श्रेष्ठ कर्म को परमेश्वर करता है, वह कर्म सूर्यादि देवता-ओं में दीखता है, अर्थात् परमेश्वर का दिव्य कर्म इस सृष्टि के पदार्थों में दीखता है॥

स्पष्टीकरण

शिष्य—इस मंत्र में "अध्वर" शब्द से क्या विशेष अर्थ ज्ञात होता है॥

गुरू—परमेश्वर जो कार्य करता है वह सब कार्य "अध्वर" मय होते हैं "अ-ध्वर" शब्द का अर्थ "हिंसा रहित, दुःख रहित" ऐसा होता है, परमेश्वर के संपूर्ण कार्य हिंसा से रहित होते हैं

सुख परिणामी होते हैं, दुःख को दूर करने वाले होते हैं, इस लिये उन कार्यों को "अध्वर यज्ञ (हिंसा रहित कर्म)" वेद में कहा है, सब काल में इस प्रकार के कार्य परमेश्वर करता है, यह आधे मंत्र का आशय है ॥

शिष्य—वह परमेश्वर के कार्य किस प्रकार मनुष्य जान सकता है ?

गुरू—तुमारे प्रश्न का उत्तर इस मंत्र के उत-रार्ध में है, देखो इस सृष्टि में सूर्य, चांद, नक्षत्र, जल, वायु, अग्नि, पृथ्वी, विद्युत् इत्यादि अनंत पदार्थ विद्यमान हैं, एक एक पदार्थ में विशेष गुण विद्यमान हैं, और उन से विशेष प्रकार का कर्म होता है, सूर्य में इस प्रकार का कार्य परमेश्वर ने किया है कि जिस से प्रकाश उत्पन्न होता है, प्राणिमात्र को जीवन शक्ति प्राप्त होती है, शुद्धता बढ़ती है, चंद्रमा में इस प्रकार घटना की है कि जिस से मन शांत होता है, आल्हाद प्राप्त हो सकता है, वायु में

ऐसी रचना परमेश्वर ने की है कि जिस से प्राणिमात्र के प्राणों का व्यवहार उत्तम प्रकार से चलता है, पृथ्वी में इस प्रकार के चातुर्य की रचना की गई है कि इस भूमि से सब प्रकार के फलफूल उत्पन्न होते हैं, यहां मनुष्य जीवन के लिये आवश्यक अन्नादि पदार्थ मिलते हैं, अस्तु, इस प्रकार पृथ्वी, वायु, सूर्य आदि देवताओं में जो विशेष कार्य हम देखते हैं वह सब का सब परमेश्वर का कार्य है, परमेश्वर का कार्य सूर्यादि पदार्थों द्वारा प्रकट होता है, परमेश्वर के उच्च कार्य देखने होंगे तो सृष्टि के पदार्थों के अंदर सूक्ष्म दृष्टि से देखना चाहिये, हर एक पदार्थ में उस का अद्भुत कार्य विदित होता है, विचारी पुरुष हर एक पदार्थ में परमेश्वर का कार्य देख कर उस का सामर्थ्य जानता है और उस की सर्व व्यापकता का अनुभव करता है ॥

शिष्य—गुरु जी महाराज ! आप का स्पष्टीकरण सुनने से मेरे मन में और भी एक आशय प्रकट

हुआ है, वह यह है कि, परमेश्वर का दिव्य कर्म जैसे बाह्य सृष्टि में दीखता है उसी प्रकार मनुष्य के शरीर के अंदर भी विदित होता है, आंख कान नाक इत्यादि अवयवों की रचना शरीर के संपूर्ण अवयवों की घटना परमेश्वर की अद्भुत शक्ति का दर्शक है, मनुष्य अपने शरीर का विचार करने से भी परमेश्वरीय अद्भुत सामर्थ्य को जान सकता है ॥

गुरु—हे सत् शिष्य! तुमारा विचार उत्तम है, जो बाह्य सृष्टि में शक्तियां हैं वह सब इस शरीर में भी हैं बाह्य सृष्टि के साथ हमारे शरीर का साम्य बहुत ही है, अर्थात जो ज्ञान बाह्य सृष्टि के विचार से हो सकता है वह इस पिंड सृष्टि के विचार से भी होता है, पिंड-अर्थात् शरीर के अंदर जो पदार्थ हैं उन के विचार से जो ज्ञान होता है उस को "अध्यात्म ज्ञान" कहते हैं तथा बाह्य सृष्टि के अंतर्गत जो सूर्यादि पदार्थ हैं उन के ज्ञान को "आधिदैविक ज्ञान" कहते हैं?

शिष्य—"आधिभौतिक" किस को कहते हैं ?

गुरु—जो ज्ञान भूतों के अर्थात प्राणिमात्र के विषय में है उसको "आधिभौतिक ज्ञान" कहते हैं अब इन बातों को छोड़कर मंत्र का आशय जो कुछ तुमने समझा है उसको कहो ॥

शिष्य—मैंने इस मंत्रका आशय यह समझा है कि "परमेश्वर के अद्भुत कार्य देखने का स्थान यह दिव्य सृष्टी है, इसके हर एक पदार्थ में उसका कार्य दृष्टी में आ सकता है, परमेश्वर के सब के सब कार्य सुख परिणामी तथा दुःख हारक होते हैं" ॥

गुरु—तुमने ठीक समझा है, इस सूक्त के चार मंत्र यहां समाप्त हुवे हैं, अब इन चार मंत्रों का परस्पर संबंध तुम को देखना चाहिये, पहिले मंत्र में परमेश्वर के कई गुण कहे गये हैं, और दूसरे मंत्र में उसकी उपासना करनी चाहिये ऐसा कहा है, तीसरा मंत्र "होतारं रत्नधातमं" इन दो

शब्दों का स्पष्टी करण है, यह दो पद "दाता तथा रत्नों को धारण कर्ता" परमेश्वर है ऐसा अर्थ बतलाते हैं, इसी का आशय तीसरे मंत्र में स्पष्ट हुवा है, "परमेश्वर से ही संपूर्ण धन प्राप्त होता है" यह इन दो पदों का स्पष्टीकरण है "यज्ञस्य देवं" इन दो पदों का स्पष्टी करण इस चौथे मंत्र में है, इन दो पदों का अर्थ "कर्म का प्रकाशक" ऐसा अर्थ है, इसी का स्पष्टी करण इस मंत्र में किया है कि जिस से विदित होता है कि "परमेश्वर के सब कार्य सुख मय हैं और वे सब इस सृष्टी में दिखते हैं" इन चार मंत्रों का परस्पर सम्बन्ध तुमको विशेष कर ध्यान में रखना चाहिये, जिस से कई भाव तुम्हारे मन के अंदर प्रकाशित हो सकेंगे, अस्तु, यहां इस सूक्त का पूर्वार्ध समाप्त होता है, उत्तरार्ध का प्रथम मंत्र देखो :—

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्र-
श्रवस्तमः। देवो देवेभिरागमत्॥ ५॥

पद०—अग्निः । होता । कवि+क्रतुः । सत्यः । चित्र+श्रवस्+तमः । देवः । देवेभिः । आ+गमत् ॥

अन्वयः—होता कविक्रतुः सत्यः चित्रश्रवस्तमः देवः अग्निः देवेभिः आगमत् ॥

टीका—होता दाता कविक्रतुः कविश्चासौ क्रतुश्च कविक्रतुः । कविः शब्दप्रवर्त्तकः क्रतुः कर्म प्रवर्तकः । सत्यः त्रिष्वपि कालेषु समत्वेन विद्यमानः चित्रश्रवस्तमः चित्रं अद्भुतं श्रवः कीर्तनं यस्य सः तदतिशयेन अस्यास्तीति तत्तमः । देवः प्रकाशकः अग्निः परमात्मा देवेभिः सूर्यादि देवताभिः आगमत् आगच्छत् ॥

अर्थ—(होता) दाता, कर्म फल का दाता, (कवि-क्रतुः) शब्द ज्ञान का प्रवर्तक तथा क्रतु, कर्म का प्रवर्तक (सत्यः) तीनों कालों में एक जैसा रहने वाला, (चित्र-श्रवस्—तमः) अत्यंत अद्भुत कीर्ति से युक्त, (देवः) प्रकाशक (अग्निः)

तेजस्वी परमात्मा (देवेभिः) सूर्यादि देवताओं के साथ (आगमत्) आवे, प्रकट होवे ॥

भावार्थ—दाता, ज्ञान तथा कर्म का प्रवर्तक, सत्य स्वरूप, अद्भुत गुण धर्मयुक्त, प्रकाशक परमेश्वर सूर्यादि देवताओं के द्वारा प्रकट होता है ॥

स्पष्टी करण ॥

शिष्य—इस मंत्र में कहा है कि "सूर्यादि देवताओं के द्वारा परमात्मा प्रगट होवे" इसका तात्पर्य क्या है ? सूर्यादि देवताओं के सहाय्य के सिवाय परमात्मा प्रकट नहीं हो सकता है ?

गुरु—विचार करके देखो तो सब तुम्हारे ध्यान में आजायगा योगी महात्मा जब समाधी लगाता है और जब निरालंब समाधि उसको सिद्ध होता है, तब उस अवस्था में परमेश्वर का साक्षात् प्रगट होना उस योगी के आत्मा में संभव हैं, क्योंकि उस समय आत्मा का परमात्मा के साथ

पूर्णतया योग होता है, और साथ साथ प्रकृति का संवंध छूटता है, यह अवस्था पूर्ण योगी होने पर प्राप्त होसकती है, परन्तु उस अवस्था तक पहुंचने के पूर्व परमात्मा का साक्षात् ज्ञान नहीं होसकता है, परन्तु परंपरा से होसकता है, इस परंपरा में दो भेद हैं, एक शब्द परंपरा से और दूसरा सृष्टी परंपरा से, शब्दों के द्वारा जो ज्ञान होता है वह सब वेद मन्त्रों में विद्यमान है और सृष्टि के द्वारा जो ज्ञान होसकता है वह सूर्यादि देवताओं के विचार से हो सकता है ॥

शिष्य—आपका कथन मेरे ध्यान में नहीं आया, कृपा करके मुझे और समझा दीजिये ॥

गुरु—ऐसी कल्पना करो कि किसी एक कुशलकारीगर से तुम मिलना चाहते हो, उसको मिलने का सब से उत्तम मार्ग यही है कि उनके पास जाना और उनसे बातचीत करनी यदि इस प्रकार उनके पास पहुंचना असम्भव हो, तो दूसरा मार्ग यह है कि उनका जीवन चरित्र पढ़ो या

उनके मित्रों से सुनो यदि यह दूसरा मार्ग भी नहीं अनुकरण किया जा सकता है तो उस अवस्था में तीसरा मार्ग यही है कि उनके कुशलता के जो पदार्थ बने हैं उनको देखो और उनकी कुशलता का अनुमान करो ॥

शिष्य—गुरु जी महाराज ! अब मेरे ध्यान में आया परमेश्वर एक बड़ा कुशल कारागीर है, वेद उसका जीवन चरित्र है, और सृष्टी उसकी अद्भुत कारागरी की चीज़ है, योगी लोग समाधि द्वारा उसका साक्षात् परिचय कर सकते हैं यह उत्तम मार्ग है, वेदों का विचार करके उसका गौरव जाना जा सकता है यह दूसरा मार्ग है, और सृष्टी की अद्भुत रचना को देखकर उसके सामर्थ्य का अनुमान किया जा सकता है यह तीसरा मार्ग है ॥

गुरु—अब तुम ने ठीक समझ लिया है तुमने कहा कि "वेद परमेश्वर का जीवन चारित्र है" यह तुमारा कथन एक अंश में ठीक है, वास्तव में वेद में

परमेश्वर का वर्णन है और साथ साथ सृष्टी का भी वर्णन है तथा मनुष्यों को उपदेश भी है, जो वेद में परमेश्वर के वर्णन का भाग है उस से हम परमेश्वर का स्वरूप शाब्दिक रीति से जान सकते हैं।

शिष्य—योगी होने का मार्ग सब को साध्य नहीं है, शेष रहे दो मार्ग, एक शब्द ज्ञान से और दूसरा सृष्टी ज्ञान से परमेश्वर को जानना, इन दो मार्गों में सुगम मार्ग कौन सा है ?

गुरु—तुम ने जो कहा कि योग सब को साध्य नहीं है, यह कथन ठीक नहीं है, योग से अनुभव ज्ञान सब लोक प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु जो नहीं करना चाहते हैं, अथवा यों कहो कि व्यावहारिक सुख की लालसा से नहीं कर सकते हैं तब उस अवस्था में इन दो मार्गों का प्रश्न सामने आता है गुरु के उपदेश से अथवा श्रुति के मनन से परमेश्वर विषयक शाब्दिक ज्ञान होता है परन्तु सृष्टि की अद्भुत रचना का विचार करके जो परमेश्वर के महान

शक्ति का ज्ञान होता है वह शब्द ज्ञान से श्रेष्ठ है और सुगम भी है, क्योंकि यहां उस के महान शक्ती की प्रत्यक्षता होती है, उस के चातुर्य्य का अनुभव होता है, तथापि मेरे विचार में वेद का तथा सृष्टी का ज्ञान साथ साथ किया जाय तो अच्छा होगा, और यही मार्ग सब से उत्तम है ॥

शिष्य—जो आपने तीनों मार्गों का वर्णन किया है वह मेरे ध्यान में आया अब मेरे पूर्व शंका का समाधान कीजिये ॥

गुरु—तुम ने यह शंका की थी, कि, "सूर्यादि देवों के द्वारा परमेश्वर का प्रकट होना" इस मंत्र में क्यों लिखा है, अब तक जो मैंने स्पष्टीकरण किया है, यदि तुम उस पर विचार करोगे तो तुम को यह शंका नहीं रहेगी, देखो सूर्य्य, चन्द्र, पृथ्वी, जल विद्युत, वायु, अंतरिक्ष, नक्षत्र समूह यह सब देवतायें, हैं, इनका विचार करना, इन के गुण धर्म सोचना और सृष्टी का विचार करना एक ही बात है, क्योंकि

इन देवताओं का समूह मिल कर ही यह सब सृष्टी होती है, संपूर्ण देवताओं को अलग कर दिया जाय तो सृष्टी नहीं रहती है, अर्थात् देवताओं का विचार और सृष्टी का विचार यह दो भिन्न नहीं है प्रत्युत एक ही बात का विचार है, अब तुम को देखना होगा कि इस सृष्टी का विचार करने से क्या लाभ होता है ॥

शिष्य—संपूर्ण सृष्टी का अथवा सृष्टी के अंतर्गत किसी एक पदार्थ का विचार करने से उस में रचना विशेष देखने से परमेश्वर के अगाध सामर्थ्य की कल्पना होती है ॥

गुरु—तुम ने ठीक कहा सूर्य्य की ओर देखो चन्द्रमा का विचार करो या वायु की घटना देखो इस हर एक पदार्थ में परमेश्वर का रचना चातुर्य विदित होता है, यदि मनुष्य ने इस सृष्टी का विचार नहीं किया, सूर्यादि देवताओं के गुण धर्म नहीं देखे, तो परमेश्वर के सामर्थ्य की कल्पना नहीं हो सकती है ॥

शिष्य—महाराज! आपने मुझे बहुत अच्छा समझाया है, आप की बड़ी भारी कृपा है अब इस मंत्र का आशय मैंने समझ लिया ॥

गुरु—यदि तुम ने समझा है तो कहो!

शिष्य—"देवो देवेभिः आगमत्" यह तीन पद हैं इसका अर्थ "परमेश्वर देवों के साथ प्रकट होवे" ऐसा आप ने कहा ही है देवों के साथ प्रकट होने का क्या अर्थ है ऐसी शंका मैंने की थी आपके स्पष्ट करण से अब वह शंका नहीं रही है, मैंने उसका आशय जो समझा है वह आप को कहता हूं, सृष्टी में सूर्य्य चन्द्रादि जो पदार्थ हैं वह सब के सब देवतायें हैं उन को देखने से उन के गुण धर्म्म जानने से उन के बनाने वाले ईश्वर का ज्ञान होता है, सूर्य्य की ओर देखते ही मन में आता है कि ऐसे तेजस्वी गोल को बनाने वाला महान तेजस्वी होना चाहिये वायु का बल देखने से विदित होता है कि उस का बनाने वाला महान बलि होना चाहिये, इसी प्रकार अन्य देवताओं की ओर दृष्टि

कन से भी लक्षण परमेश्वर की कल्पना स्फुरण होती है अर्थात् देवताओं को देखने के साथ ही परमेश्वर प्रकट होता है ॥

गुरु—अब तुम ने ठीक समझा है, सूर्यादि देवताओं के प्रत्यक्ष दर्शन से ही परमेश्वर का अस्तित्व तथा परमेश्वर की कल्पना मन में उद्भूत होती है, गुरु ने परमेश्वर की कल्पना वेद मंत्रों के द्वारा शिष्य के मन में उत्पन्न भी की तो सृष्टी के उदाहरण के विना ठीक नहीं ज्ञात हो सकती है, इस कारण इस मंत्र में "देवों के साथ परमेश्वर का प्रकट होना" कहा है, जो मनुष्य विचार पूर्वक सूर्यादि देवों की ओर देखेगा, तो उस के मन में सूर्य्य की कल्पना के साथ ही परमेश्वर की कल्पना उत्पन्न होगी यही "अनेक देवों के साथ एक देव का प्रकट होना" है ॥

शिष्य—इस मंत्र में निःसन्देह परमेश्वर प्राप्ती का मार्ग लोगों को बतलाया है, अब कहिये कि इस

मंत्र में परमेश्वर का "कवि+क्रतुः" यह विशेषण क्या विशेष अर्थ बतलाता है ॥

गुरु—इस पद में दो शब्द हैं "कवि+क्रतु" इन के अर्थ देखोः—

कविः=काव्य कर्ता, शब्दशास्त्रज्ञ, ज्ञानी ॥

क्रतुः—यज्ञ, कर्म, उद्योग,

" कवि " शब्द से परमेश्वर ज्ञान संपन्न है, शब्दशास्त्र रूपी वेद का प्रवर्तक वही है इत्यादि आशय विदित होता है,

" क्रतु " शब्द से कर्म करने वाला ऐसा अर्थ विदित होता है, जगद्रूपी बृहद् यज्ञ का करने वाला वही है, उसके यज्ञ का स्वरूप वर्णन पूर्व स्थल में आचुका है.

शिष्य—"सत्य" शब्द से क्या अर्थ लेना उचित है ?

गुरु—"सत्य" शब्द का अर्थ " तीनों कालों में एक जैसा रहने वाला " ऐसा है, परमेश्वर

सनातन एक रस होने से, और उस में विकार नहीं होने के कारण उसको "सत्य" बोलते हैं।

शिष्य—"चित्र-श्रवस-तमः" इस विशेषण से क्या आशय समझना चाहिये?

गुरु—इस शब्द में तीन विभाग हैं, देखो उन का क्रमशः अर्थः—

चित्र—विचित्र, अद्भुत, आश्चर्यकारक,

श्रवस—स्तुति, कीर्ति, वर्णन,

तम—अत्यंत,

इन अर्थों को जोड़ देवें—"जिस की कीर्ति अत्यंत आश्चर्यकारक है, उसको "चित्रश्रवस्तम" कहते हैं यह तुम्हारे ध्यान में आगया होगा, अब तुमने सब शब्दों के अर्थ जान लिये हैं, अब कहो कि इस मंत्र का आशय क्या हुआ?

शिष्य—इस मंत्र का आशय यह है कि "परमेश्वर कर्मफल दाता, कवि, जगत्कर्ता, एक रस

सत्कीर्तियुक्त है, उसकी कल्पना सृष्टि के विचार से उत्पन्न होती है,"

गुरु—तुम्हारे ध्यान में इस मंत्र का आशय अब ठीक आया है, अब छटा मंत्र देखोः—

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि ।
तवेत्तत् सत्यमंगिरः ॥ ६ ॥

पद०—यद् । अङ्ग । दाशुषे । त्वम् । अग्ने भद्रं । करिष्यसि । तव । इत् । तत् । सत्यम् अंगिरः ॥

अन्वय—हे अंग, अंगिरः अग्ने ! यद् भद्रं त्वं दाशुषे करिष्यसि । तत् तव इत् सत्यम् ॥

टीका—हे अंग हे प्रिय ! हे अंगिर ! हे प्राण । प्राणा वा अंगिराः । शतपथ० ॥ हे अग्ने परमात्मन् !

यद् भद्रं कल्याणं त्वं दाशुषे दानकर्त्रे पुरुषाय करिष्यसि । तत तव इत् एव सत्यम् । नान्यः एवं निश्चयेन करोति ॥

अर्थ—हे (अंग) प्रिय (अंगिरः) प्राण (अग्ने) परमेश्वर। (यत्) जो (भद्रं) कल्याण (त्वं) तू (दाशुषे) दान देने वाले मनुष्य के लिये (करिष्यति) करते हो। (तत्) वह (तव) तुम्हारा (इत्) ही (सत्यं) सत्य धर्म है ॥

भावार्थ—प्रिय, कल्याणदाता, ज्ञान स्वरूप परमेश्वर परोपकारी मनुष्यों का सदा कल्याण करता है, ऐसा करना यह उनका ही सत्य धर्म है ॥

स्पष्टी करण

शिष्य—इस मंत्र में परमेश्वर को "अंग" क्यों कहा है ?

गुरु—जो प्रिय होता है उसको "अंग" बोलते हैं, परमेश्वर सर्व सुखों का दाता, सर्व मंगल

मय होने से संपूर्ण जीवों को वही प्रियतम है, इस लिये उसको "हे अंग—हे प्रिय" ऐसा कहा है, इसी प्रकार "अंगिरः" उसको कहते हैं कि जो "सबका प्राणरूप हो" इस शब्द की व्युत्पत्ति बड़ी विलक्षण है, यह मूल "अंगि-रस" शब्द है, शरीर के नाना अवयवों में जैसा एक ही रस-रुधिर-घूमता है और सबका स्वास्थ्य ठीक रखता है उसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड में सूर्यचन्द्रादि गोलों के अन्दर प्राण रस रूप से परमेश्वर विद्यमान है, इस कारण उसको "अंगिरः" कहते हैं, "अंगिरसः अंगा-मां हि योरसः" ऐसी इसकी आर्ष व्युत्पत्ति है, जो अंगों में रस होता है वही अंगिरस कहा जाता है.

शिष्य—"अंगिरस" शब्द से परमेश्वर की सर्व व्यापकता स्पष्ट तया विदित होती है, तथा संपूर्ण ब्रह्माण्ड के अवयवों में पूर्णतया व्याप्त होकर सब का धारण करने वाला वही है ऐसा भी निष्कर्ष इस पद से निकलता है.

गुरु—तुम ने अच्छा विचार किया है, अब कहो कि इस मंत्र में विशेष क्या कहा है ?.

शिष्य—इस मंत्र में मुख्य वाक्य " दाशुषे भद्रं करिष्यसि । " यह है, इसका अर्थ "परमेश्वर दानशील परोपकारी पुरुषों का कल्याण करता है " ऐसा है, अर्थात् परोपकार करना, दूसरे के हितार्थ अपना सर्वस्व अर्पण करना, यही अपने कल्याण का हेतु है ऐसा सिद्ध होता है ।

गुरु—ठीक है, यही वैदिक धर्म का नियम है, मनुष्य उच्च होकर " देव " बनता है, और नीचे गिरता हुआ राक्षस बनता है, अर्थात् मनुष्य की मध्य अवस्था है, उस के नीचे की श्रेणी में राक्षस हैं, और उच्च श्रेणी में देव हैं, मनुष्य ही देव बनते हैं और वही मनुष्य राक्षस बनते हैं, गुण तथा कर्म के प्रभाव से उच्च नीचता आती है, दान देने से परोपकार करने से, दूसरों के हित में तत्पर होने से, सर्व भूतों का हित करने में स्थिर रहने से मनुष्य

ही देष होता है, केवल स्वार्थके परायण होने से, स्वसुख के लिये दूसरों की हानी करने से मनुष्य ही राक्षस बनता है. इस विश्व में उदार दानशील महात्माओं का ही परमेश्वर कल्याण करता है, उन को श्रेष्ठ बनाता है, श्रेष्ठ होने का परोपकार हीं एक उत्तम मार्ग है ॥

शिष्य—इस मंत्र के उत्तरार्धका क्या आशय है ?

गुरु—इस मंत्र के उत्तरार्ध में " तत् तव इत् सत्यं" ऐसे चार शब्द हैं, उनका अर्थ "वह तुम्हारा ही सत्य है" ऐसा है, " परोपकारी मनुष्यों का सदा हित करना यह, हे परमेश्वर! तुम्हारा ही सत्य नियम है;" कभी भी परमेश्वर इस नियम को नहीं तोड़ता है, सर्वदा उन्हीं का हित करता है और जो दान नहीं करते हैं उनका अहित करता है, स्वार्थी लोगों का परिणाम में अहित और परोपकारी लोगों का परिणाम में हित होता है यह इस विश्व में दीखता है, यह परमेश्वर का सच्चा नियम है ऐसा ध्यान में रखकर अपनी उन्नति के लिये मनुष्य को परोपकारी बनना चाहिये।

शिष्य—इस मंत्र का किसी पूर्व मंत्र के साथ सम्बन्ध है ?

गुरु—हां है, पांचवें मंत्र में "सत्यः" शब्द आया है, उसी का व्याख्यान इस मंत्र में है, परमेश्वर के सर्व नियम सत्य अर्थात् त्रिकाला बाधित होने से परमेश्वर को " सत्य " कहते हैं, परमेश्वर के जो अनंत सत्य नियम हैं, उन में से एक नियम, जो कि धर्म का मूल है, उसका वर्णन इस मंत्र में किया है, अब सातवां मंत्र देखो :—

उप त्वाऽग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्धिया वयम् ॥ नमो भरंत एमसि ॥ ७ ॥

पद०—उप । त्वा । अग्ने । दिवे दिवे । दोषावस्तः । धिया । वयम् । नमः । भरंत । आ । इमसि ॥

अन्वयः—हे अग्ने ! दिवे दिवे दोषावस्तः वयं धिया नमः भरन्तः त्वा उप+आ+इमसि ॥

टीका—हे अग्ने परमात्मन् ! दिवे दिवे प्रति दिनं दोषावस्तः रात्रौ अह्नि च धिया बुद्धया वयं उपासकाः नमः नम्रीभावं भरन्तः धारयन्तः त्वा त्वां उप समीपे आ अभिमुख्येन इमसि आगच्छामः प्राप्नुमः ॥

अर्थः—हे (अग्ने) परमेश्वर ! (दिवे दिवे) प्रति दिन (दोषा) रात्रौ के समय तथा (वस्तः) दिन के समय (धिया) बुद्धि से (वयं) हम उपासक जन (नमः) नम्रता (भरन्तः) धारण करते हुए (त्वा) तुम्हारे (उप) समीप (आ-इमसि) प्राप्त होते हैं,

भावार्थ—हे परमात्मन् ! हम उपासक प्रति दिन दिन में तथा रात्री में अंतःकरण में नम्रभाव धारण करके तुम्हारी ही उपासना करते हैं ॥

स्पष्टीकरण

शिष्य—इस मंत्र में " दिवे दिवे " तथा " दोषावस्तः " इन दो पदों से क्या अर्थ लेना चाहिए ? दोनों पदों से एक ही अर्थ निकल आता है

गुरु—इन दो पदों से एक अर्थ नहीं आता है तुमने विचार नहीं किया इसलिये तुम्हारे ध्यान में इन का भेद नहीं आया, ऐसी गड़बड़ कभी भी नहीं करनी चाहिए, " दिवे दिवे " शब्द का अर्थ " प्रतिदिन " ऐसा है, परमेश्वर की उपासना प्रति दिन करनी चाहिए, यह भाव इस शब्द से आता है, " दोषावस्तः " इन में दो पद हैं, पहिले "दोषा" शब्द का अर्थ "रात्री" ऐसा है और दूसरे 'वस्तः' शब्द का अर्थ "दिन" ऐसा है, अतः इसका अर्थ दिन में भी उपासना करनी चाहिये और रात्री में भी करनी चाहिये ऐसा होता है, अर्थात "दिवे दिवे दोषा-वस्तः" इन चार पदों का अर्थ " प्रतिदिन दो

समय उपासना करनी चाहिये" ऐसा स्पष्ट हो गया, दिन के समय एक वार और रात्री के समय एक वार, अर्थात् प्रातः सायम् परमेश्वर की उपासना होनी चाहिये, कोई दिन तथा कोई समय उपासना के सिवाय नहीं जाना चाहिये ।

शिष्य—यह अर्थ ठीक है, इस से उपासना का समय भी निश्चित हो गया, परन्तु, गुरु जी! इसका अर्थ प्रातःकाल तथा सायंकाल ऐसा ही क्यों किया जाय? दिन रात उपासना करते रहना चाहिये ऐसा क्यों नहीं किया जाय?

गुरु—बड़ी अच्छी बात है, जो मनुष्य सब काल दूसरा कुछ काम नहीं करता हुआ ईश्वर की उपासना ही करेगा, वह वैसा ही करता रहे, आनंद की बात है, परन्तु व्यवहार करके परमार्थ का साधन करने का हो तो दिन में दो वार उपासना अवश्य करनी चाहिये, यह इस मंत्र का आशय है।

शिष्य—इस मंत्र में "बुद्धि में नम्रता धारण करनी चाहिए" ऐसा जो कहा है उसका क्या हेतु है॥

गुरु—परमेश्वर के विषय में सर्वदा नम्रभाव ही रखना चाहिये, परमेश्वर बड़ा है, हम छोटे हैं, परमेश्वर सर्वज्ञ है हम अल्पज्ञ हैं, परमेश्वर बलवान हैं हम बलहीन हैं, इत्यादि प्रकार देखकर उनके सन्मुख नम्रभाव धरना चाहिये. नम्रता मन में रहने से मन की उन्नति होती है।

शिष्य—अब मैंने इस मंत्र का आशय समझ लिया इस मंत्र में दो उपदेश किये हैं, एक परमेश्वर की उपासना प्रतिदिन करनी चाहिये, और दूसरा मन में नम्रता धारनी चाहिये, परन्तु उपासना किस प्रकार करनी चाहिये?

गुरु—यह मंत्र उपासना का ही है, जैसा इस मंत्र में कहा है वैसा ही नम्रता पूर्वक कहने से उपासना होती है, अब आगे का मंत्र देखो :—

राजन्तमध्वराणां गोपामृतस्य दीदिविम्॥ वर्धमानं स्वे दमे॥ ८॥

पद०—राजन्तम् । अध्वराणाम् । गोपाम् ।

ऋतस्य । दीदिविम् । वर्धमानम् । स्वे । दमे ॥

अन्वयः—राजन्तं, अध्वराणां गोपां, ऋतस्य दीदिविं, स्वे दमे वर्धमानम् ॥

टीका—राजन्तं प्रकाशमानं, अध्वराणां हिंसा रहितानां यज्ञाना गोपां रक्षकं, ऋतस्य सत्यस्य । दीदिविं प्रकाशकं, स्वे ·स्वकीये दमे स्थाने वर्धमानं त्वां ईश्वरं उपैमसि इति पूर्वमन्त्रस्थपदैः, समन्वयो ज्ञेयः ॥

अर्थ—(राजन्तं) प्रकाशमान (अध्वराणां) हिंसा रहित कर्मों का (गोपां) संरक्षक, (ऋतस्य) सत्य का (दीदिविं) प्रवर्तक, प्रकाशक, (स्वे) स्वकीय (दमे) स्थान में (वर्धमानं) वृद्धि को प्राप्त होने वाले परमेश्वर की हम उपासना करते हैं ।

भावार्थ—परमेश्वर प्रकाशमय, सत्कर्मों का रक्षक, सत्य का प्रवर्तक, तथा अपने शुद्ध स्थान में स्थित है, उसी की उपासना करनी चाहिये।

स्पष्टीकरण

गुरु—इस मंत्र का पूर्व मंत्र के साथ सम्बन्ध है, पूर्व मंत्र में "त्वां—तुम्हारी" शब्द आया है, उसी का वर्णन इस मंत्र में है, परमेश्वर किस प्रकार का है, इसका वर्णन इस मंत्र में है, वह तेजस्वी है, वह हिंसा रहित कर्मों का रक्षक है, वह सत्य का आधार है। इसी परमेश्वर की उपासना करनी चाहिये।

शिष्य—इस मंत्र का अंतिम भाग मैंने नहीं समझा है, कृपा करके समझाइये॥

गुरु—"स्वे दमे वर्धमानं" यह इस मंत्र का उत्तरार्ध है, इसका दो प्रकार का अर्थ होसकता है, एक तो यह है कि "परमेश्वर अपने स्थान में

अर्थात् संपूर्ण विश्व के अंदर बाहिर विद्यमान है, दूसरा यह अर्थ ह कि "स्व" शब्द का "उपासक जीव" ऐसा भी एक अर्थ है, जो जीव परमेश्वर का भक्त है उसको परमेश्वर "स्व-स्वकीय अपना" ऐसा कहता है, परमेश्वर का स्वकीय अर्थात् उपासक जीवात्मा स्व शब्द से वाच्य है, "दम" शब्द से "शम, दम" आदि इन्द्रिय निग्रह के प्रकारों का बोध होता है, 'अतः' "स्वे दमे" इन दो शब्दों का "भक्त के शांत हृदय में" ऐसा अर्थ स्पष्ट है, इंद्रियों को दमन करके जो शांति की स्थिति होती है उस अवस्था में "वर्धमाने-वृद्धी को प्राप्त होने वाला"- अर्थात् जिस प्रकार वह शांति की स्थिति बढ़ेगी, उसी प्रकार उस भक्त के हृदय में अधिकाधिक प्रकाशित होनेवाला" ऐसा इन पदों का अर्थ होता है इस से तुम्हारे मन में आया होगा, कि उपासना करने वाले भक्तों को अपने इन्द्रियों का शमन, मन आदि अंतः करणों का दमन अवश्यमेव करना चाहिए अन्यथा ठीक प्रकार उपासना से उत्पन्न होने वाला

आनंद नहीं प्राप्त होगा, जितना "दम" बढ़ेगा परमेश्वर का प्रकाश अंतः करण में अधिक पड़ेगा, यह इस मंत्र का विशेष कथन है ॥

शिष्य—इन्द्रिय दमन यह एक उपासना के लिये अत्यंत आवश्यक बात है, यह इस मंत्र में मैंने समझ लिया, अब आगे का मंत्र कहिये ॥

गुरु—सुनो :—

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव

स च स्वा नः स्वस्तये ॥९

पद०—सः । नः । पिता । इव । सूनवे । अग्ने । सूपायनः (सु+उपायनः) भव । सचस्व । नः । स्वस्तये ॥

अन्वयः—हे अग्ने! पिता सूनवे इव । स (त्वं) नः सूपायनो भव । नः स्वस्तये सचस्व ॥

टीका—हे अग्ने परमात्मन् । पिता जनकः सूनवे पुत्राय इव सः त्वं परमेश्वरः नः अस्मदर्थं सूपायनः शोभनप्राप्तियुक्तः भव । तथा च नः स्वस्तये कल्याणाय सच स्व समवेतो भव ॥

अर्थ—हे (अग्ने) परमात्मन् ! (पिता) पिता (सूनवे) पुत्र के लिये (इव) जिस प्रकार होता है उस प्रकार (सः) वह तू परमेश्वर (नः) हमारे लिये (सुपायनः) शोभन प्राप्ति युक्त (भव) हो, उसी प्रकार (नः) हमारा (स्वस्तये) कल्याण के लिये (सच स्व) समवेत हो ॥

भावार्थ—जिस प्रकार पिता पुत्र के लिये हितकारी होता है उसी प्रकार हम सब मनुष्यों के लिये परमेश्वर हितकारी होता है, तथा सब मनुष्यों के कल्याण का हेतु बनता है ॥

स्पष्टीकरण

शिष्य—पिता पुत्र के उदाहरण से यहां क्या बतलाया है ?

गुरु—पिता अपने पुत्र का हित सर्वदा चाहता है और करता है, पिता का दर्शन इसी कारण पुत्र के लिये सुखदायी होता है, उसी प्रकार यहां भी समझलो, परमेश्वर सब का पिता है, और जितने जीव हैं उतने सब उसके अमृत पुत्र हैं, उस परम पिता के दर्शन से, साक्षात्कार से, जीवको अत्यन्त सुख प्राप्त होता है, उसी के दर्शन की इच्छा इस मंत्र में की गई है, यह प्रार्थना मंत्र है ॥

शिष्य—परमेश्वर का दर्शन किस प्रकार हो सकता

गुरु—अनन्यभक्ति, परोपकार, योग का अनुष्ठान, ध्यान, परमेश्वर स्तुति, उसके गुणों का मनन, उसका निदिध्यास, उसकी उपासना इत्यादि करने से उसका दर्शन, अथवा साक्षात्कार, होसकता है, इसी अवस्था को जीवन मुक्ति अथवा मुक्ति कहते हैं यह अवस्था प्राप्त होने के पश्चात् दुःख छूट जाते हैं और परम आनंद की प्राप्ति होती

है, इस मंत्र में (स्वस्ति) कल्याण का हेतु परमेश्वर है ऐसा कहा है इसका भी हेतु यही है कि सर्व सुखों का आलय सब कल्याण का निवास, सब आनन्द का केन्द्र, वही मंगल मय परमेश्वर है, उसी की प्राप्ति की इच्छा सब लोगों को करनी चाहिये यहां यह सूक्त समाप्त हुवा है ॥

शिष्य—इस सूक्त के विषय में कुछ अन्य बातें कहनी हों तो अवश्य कहिये, इस सूक्तार्थ के श्रवण से मुझे अत्यन्त आनंद होता है ॥

गुरु—तुम्हारे समान भक्तिमान शिष्य मिलने पर किस गुरु को आनंद नहीं होगा ? अस्तु इस सम्पूर्ण सूक्त का तुमने पूर्ण अध्यन किया, धर्म के मुख्य तीन अंग हैं (१) परमेश्वर की स्तुति (२) परमेश्वर की उपासना तथा (३) परमेश्वर की प्रार्थना ॥

शिष्य—परमेश्वर की स्तुति क्यों करनी चाहिये ?

गुरु—हे सच्छिष्य ! देखो ! परमेश्वर सब सत्य सद्गुणों का आलय है, मनुष्यों में जो उत्कृष्ट पुरुष रहता है उसका जीवन चरित्र पढ़कर उसके गुणों का वर्णन करके मनुष्य अपने जीवन का सुधार कर सकता है, तब इस में क्या संदेह है कि जो सब से श्रेष्ठ है, सब से पूर्ण है, सब से उत्तम है उस परमेश्वर का गुण वर्णन करने से मनुष्य अपने जीवन का सुधार नहीं कर सकता है ? परमेश्वर दाता, न्यायकारी, निःस्वार्थी, सर्वज्ञ इत्यादि गुणों से युक्त है ऐसा कहने पर मनुष्य के मन में अवश्य प्रेरणा होगी कि मैं भी उसी के समान दाता, न्यायकर्त्ता, निःस्वार्थी ज्ञान युक्त होऊं, इस लाभ के लिये हमको ईश्वर की स्तुति करनी चाहिये ॥

शिष्य—अब मेरे ध्यान में आया, अब आप और उपदेश दीजिये ॥

गुरु—स्तुति, प्रार्थना, उपासना यह धर्म के तीन अंग हैं, इस सूक्त में प्रथम मंत्र परमेश्वर के गुणों का वर्णन करता है, वह केवल स्तुति मंत्र है,

इसी प्रकार पांचवां मंत्र भी स्तुति मंत्र है, दूसरे मंत्र में कहा है कि परमेश्वर की स्तुति सब मनुष्यों को करनी उचित है, प्राचीन हो अर्वाचीन हो नवीन हों वृद्ध हो, विद्वान हो अविद्वान हों सब का कर्त्तव्य है, अर्थात् मनुष्यों के कर्त्तव्य का वर्णन इस मंत्र में है, तीसरे मंत्र में उपासना का फल है चतुर्थ मंत्र में कहा है कि परमेश्वर जो महान् यज्ञ करता है वह संपूर्ण विश्व में दीखता है, छठे मंत्र में कहा है कि परमेश्वर परोपकारी पुरुषों का अवश्य कल्याण करता है, इस कथन से लोगों को उपदेश भी दिया है कि लोग परोपकार किया करें, सातवें मंत्र में कहा है कि उपासना के समय मन में नम्रता रखनी चाहिये, फिर आठवें मंत्र में परमेश्वर के गुणों का वर्णन है, और नवम मंत्र में उसकी प्रार्थना है, अर्थात् प्रथम, पंचम तथा अष्टम यह तीन मंत्र स्तुति के हैं, नवम मंत्र प्रार्थना का है और शेष पांच ही मंत्र उपासना के हैं अब तुम इस पर विचार करो ॥

शिष्य—आपने उत्तम प्रकार से समझाया हूं आपकी बड़ी कृपा है, मैं अब अन्य सूक्तों का अध्ययन करना चाहता हूं ॥

गुरु—मैं तुमको बड़े आनंद से पढ़ाऊंगा, परंतु इस सूक्त पर कई दिन तक विचार करो, और फिर मेरे पास आजावो तो मैं दूसरा सूक्त तुमको विवरण के साथ कहूंगा ॥

शिष्य—अच्छा, नमस्ते ?

सहनाववतु सह नौ भुनक्तु सहवीर्यं करवावहै
तेजस्वि ना वधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥

शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

पुस्तक प्रचार विभाग।

यदि आप वैदिक धर्म संबंधी सस्ती और उत्तम २ उपयोगी पुस्तकें पढ़ाना चाहते हैं, तो नीचे लिखी पुस्तकें मंगवाइये। यह पुस्तकें आर्य्य प्रति निधि सभा पंजाब ने आपके लाभ अर्थ कई विद्वान् महाशयों से प्रणीत कराई हैं॥

पं० शिवशंकर जी की पुस्तकें।

ओंकार निर्णय	...	...	...	।=)
त्रिदेव निर्णय	...	...	...	।॥)
जाति ,, ,,	...	...	...	१)
श्राद्ध ,, ,,	...	...	...	॥।)
वैदिक इतिहास निर्णय		...	...	१॥)

भाषा की अन्य पुस्तकें।

वैदिक धर्म का महत्व	...	...	=)॥
आर्य्यों के नित्य कर्म	...	...	=)॥

ENGLISH BOOKS.

Beauties of Vedic Dharm	...	0	1	3
True Pilgrim of Progress	...	0	1	6
Ideals of Education ...	...	0	1	0

उर्दू की पुस्तकें ।

नियम का साधन ...	...	-)
यम ,, ,, ...	...	)॥
आसन	...	-)।
ओ३म् ही इस्म आज़म है ...	...	≈)
मसाएल ज़िंदगी	...	)।
परमात्मा की सर्व व्यापकता ...	...	)।
महर्षि दयानन्द की तालीम (१) ...		)।
,, ,, (२) ...		-)
आर्य्यवर्त का फन तहरीर ...	...	)॥
बाइबल को किस ने लिखा ...	...	-)
इनसानी ज़िंदगी का मकसद ...	...	)।
अखलाकी रूहानी सेहत ...	...	)।
मौरूसी ब्राह्मण ...	...	।)
इनसानी सोसाइटी की बनावट	...	)।

विवाह और नियोग ... ... -)
तरक्की की शाहराह ...)|||
ग्रहण महात्म ... ...)|
यसूह नासरी ... ... -)|
मोक्ष मार्ग ... ... -)|
परमार्थ ... ...)||
वैदिक तोहीद ... ... -)
आर्य्य समाज क्या है ... ...)|
मोहजज़ात ईस्वी ... ...)|
थिआसोफीकल सोसाइटी ... -)|
गुनाह कहां से आया ... ...)|
पाखंड खंडन ... ...)||
पांच कक्के ... ...)|||
मिय्यार इलाहाम ... ...)||
शादि बेवगान व नियोग ...)|||
विस्तार पूर्वक संध्या ... ... |)
आर्य्य समाज का बोल बाला ... ... ||)
राधा स्वामी मत दर्पन ... ... |=)
वेद प्रचार निधि ... ...)|||

इलेर धार्म्मिक चोर	...	...	-)
कपतान डाकू	...	... ...	-)
भविष्य पुराण में ईसा व मुहम्मद		...	)।
कल्याण मार्ग	...	... ...	।)
माण्डूक्य उपनिषद्	...	...	॥)
विदुरजी का उपदेश	...	...	)॥
स्वामी जी का जीवन चरित्र बड़ा			४॥)
कुल्लायात मुसफ़र	...	...	१।≈)

नोट—थोक के खरीदार को १५)सैंकड़ा कमीशन दिया जाता ॥

पता :—

ला० केदारनाथ

मंत्री आर्य्य प्रति निधि सभा पंजाब लाहौर ।

आर्य्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के उद्देश्य ॥

प्रथम—वेद वेदाङ्गों तथा अन्य प्राचीन संस्कृत शास्त्रों की शिक्षा प्रदान करने और आर्य्योपदेशक प्रस्तुत करने के निमित्त विद्यालय स्थापित करना।

टिप्पणी—इस उद्देश्य की सिद्धि अर्थ सभा ने काङ्गड़ी ग्राम में हरिद्वार के निकट सं: १९५९ विक्रमी से गुरुकुल महा विद्यालय स्थापन कर रक्खा है, वैदिक मैगज़ीन तथा गुरुकुल समाचार विद्यालय का प्रसिद्ध पत्र है, मूल्य केवल ३) वार्षिक है।

द्वितीय—सर्व साधारण के उपकारार्थ धर्म विज्ञान सम्बन्धी पुस्तकालय स्थापन करना।

टिप्पणी—वैदिक पुस्तकालय लाहौर जो सहस्रों ग्रन्थों से पूरित है, यथेष्ट रूप से इस उद्देश्य को पूरा करता है।

तृतीय—वैदिक शिक्षा को पुनर्जीवित करने के निमित्त ग्रन्थ और पुस्तकायें (ट्रैक्ट) प्रकाशित करना

टिप्पणी:—सभा की आज्ञानुसार अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं आर्य्य मुसाफिर मासिक पत्र उर्दू भाषा में छपता है, वार्षिक मूल्य ३) है, सप्ताहिक पत्र आर्य्य पत्रिका नामक इंगलिश भाषा में प्रकाशित होता है वार्षिक मूल्य ५) है, इन सबके द्वारा उपरोक्त उद्देश्य की सिद्धि होती है।

चतुर्थ:—वैदिक धर्म्म के प्रचारार्थ, पञ्जाब काश्मीर, पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त, सिन्ध और बलोचिस्तान आदि स्थानों में प्रबन्ध करना॥

पञ्चम—वैदिक धर्म्म के प्रचारार्थ नाना उपायों और साधनों को प्रयोग में लाना।

टिप्पणी—यह चतुर्थ व पंचम उद्देश्य बहुत से उपदेशकों और समाजों के वार्षिकोत्सवों द्वारा सफल किये जाते हैं।

धर्म ग्रन्थमाला] ओ३म् [प्रथम पुष्प

उत्तम ज्ञान

लेखक
श्री. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर
लाहौर

प्रकाशक,
ला० केदारनाथ मंत्री आर्य्य प्रतिनिधि
सभा लाहौर ।

सम्वत १९६९ । सन १९१२

द्वितीय बार १०००] [मूल्य)॥

पन्जाब प्रिंटिंग वर्क्स लाहौर ॥

पाठकों के साथ बात चीत।

महाशय पाठकगण नमस्ते !

आप जानते ही हैं कि वेद सम्पूर्ण ज्ञान का मूल भण्डार है। उस में जो जो अपूर्व ज्ञान हैं उन को लोगों के साम्हने लाना हर एक आर्य्यपुरुष का कर्त्तव्य है।

वैदिक-ज्ञान-भण्डार में अनेक रत्न हैं, जिन में इस से पुस्तक द्वारा एक दो रत्न आप के साम्हने रक्खे जाते हैं जिन से आप अपने मन की शान्ति को बढ़ावें और अन्यों के भी मनों को शान्ति दें।

जो सुन सकते हैं, और विचार कर सकते हैं, ऐसे मनुष्यों के पास वेद का सत्य उपदेश पहुंचाना चाहिये। आशा है कि आप हमें इस कार्य्य में सहायता देंगे।

इसी प्रकार धर्म्म ग्रन्थ-माला में अन्य अन्य उपदेश के पुस्तक प्रकाशित होंगे, और जहां तक हो सकेगा वहां तक अल्प मूल्य में दिये जायंगे!

भवदीय कृपाकांक्षी—
श्रीपाद दामोदर सातवलेकर।

धर्म्म ग्रंथ माला।

(१)

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।

अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ १ ॥ (अथर्व० कां० ३ सू० ३०)

अन्वयः—वः सहृदयं सांमनस्यं अविद्वेषं (च) कृणोमि । अघ्न्या*जातं वत्सं इव, अन्यो अन्यं अभि-हर्यत ॥

अर्थ—तुम्हारे अन्दर सहृदयता, मन की शुद्धता, और अद्वेष को स्थापित करता हूं । तुम एक दूसरे से उसी प्रकार प्रीति पूर्वक व्यवहार करो, जैसे नये उत्पन्न हुवे हुवे अपने बछड़े से गौ प्यार करती है ।

उपदेश

(१) मनुष्यों को सहृदय (अनुभव-शील हृदय वाला) होना चाहिये ।

(२) अपना मन सुसंस्कृत करके उत्तम बनाना चाहिये ।

---

* "अघ्न्या" शब्द गौ का वाचक है । जिसका अर्थ (अ + घ्न्या) अवध्य अर्थात् "जिसका वध नहीं करना चाहिये" ऐसा है ।

(३) सब मनुष्यों को परस्पर द्वेष न करना चाहिये ।

(४) मनुष्यों को परस्पर प्रेम रखना चाहिये ।

(५) गौ अवध्य है, उसे कभी न मारना चाहिये ।

(२)

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः । जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम् ॥ २ ॥

अन्वयः—पुत्रः पितुः अनुव्रतः (भवतु) । पुत्रः मात्रा संमनाः भवतु । जाया पत्ये मधुमतीं शान्तिवां वाचं वदतु ।

अर्थ—पुत्र पिता का अनुव्रत हो । माता के कारण पुत्र शुद्ध मन वाला हो । पत्नी अपने पति से मधुर और शान्ति कारी वाणी बोले ।

उपदेश।

(६) पुत्र को उचित है, कि वह अपने पिता के आरम्भ किये हुए शुभ कर्मों को पूर्ण करे।

(७) माता के उत्तम होने से ही पुत्र शुद्ध मन वाला हो सकता है अतः माता को शिक्षिता तथा विदुषी होना चाहिये।

(८) पत्नी को उचित है कि अपने पति से मधुर और शान्ति करने वाली वाणी द्वारा बातचीत किया करे।

(३)

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसार-
मुत स्वसा। सम्यंचः सव्रता भूत्वा
वाचं वदत भद्रया। ३।

अन्वयः—भ्राता भ्रातरं मा द्विक्षत। उत स्वसा स्वसारं मा द्विक्षत। सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा भद्रया वाचं वदत॥

अर्थ—भाई से भाई द्वेष न करे। बहिन बहिन से द्वेष न करे। उत्तम और सव्रत होते हुए, तुम परस्पर कल्याणी वाणी से बोलो।

उपदेश

(९) भाईयों और बहिनों में परस्पर द्वेष न होना चाहिये।

(१०) सब मनुष्यों को उचित है कि, वे समान रीति से व्रतों का पालन [अर्थात् कार्य्य] करते हुवे उत्तम बने।

(११) एक दूसरे के साथ बात चीत के समय उत्तम उत्तम और कल्याण कारक वाणी बोलनी चाहिये।

(४)

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः । तत् कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥ ४ ॥

अन्वयः—येन देवाः न वियन्ति । नो च मिथः विद्विषते । तत् संज्ञानं ब्रह्म वः गृहे पुरुषेभ्यः कृण्मः ।

अर्थ—जिस से विद्वान् लोग परस्पर विरोध और द्वेष न करें, ऐसा ऐक्योत्पादक ज्ञान तुम्हारे घर के मनुष्यों को देते हैं ।

उपदेश

(१२) सब मनुष्यों को उचित है कि, अपने परिवार में (गांव में, नगर में प्रान्त में और राष्ट्र में) ऐसे उत्तम ज्ञान का विस्तार

करें, कि जिस से मनुष्यों में विरोध भाव और द्वेष न बढ़ने पावे ।

(५)

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वियौष्ट
संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः ।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत
सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि ।५।

अन्वयः—हे ज्यायस्वन्तः चित्तिनः ! सधुराः चरन्तः संराधयन्तः यूयं मा वियौष्ट । अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत । सध्रीचीनान् वः संमनसः कृणोमि ॥

अर्थ—हे श्रेष्ठ मनुष्यो और हे बुद्धिमान् लोगो ! एकत्र होकर, अच्छी तरह कार्यों को सिद्ध करते हुवे, तुम पृथक् मत होवो, एक दूसरे के साथ अच्छी

वाणी में बातचीत करते हुवे, (उन्नति की ओर) चलो। तुम इकट्ठे काम करने वालों के मन को पवित्र तथा सुसंकृत बनाता हूं।

उपदेश।

(१३) यदि श्रेष्ठ और बुद्धिमान् पुरुष मिल कर इकट्ठा कार्य करें तो अवश्य कार्यसिद्धि होती है॥

(१४) इकट्ठा कार्य करते हुवे परस्पर द्वेष उत्पन्न होने की अधिक सम्भावना रहती है, अतः मनुष्यों को विशेषध्यान रखना चाहिये, कि आपस में द्वेष उत्पन्न न होने पावे॥

(१५) एक संस्था में कार्य करने वालों को उचित है कि, वे एक दूसरे के साथ बात चीत के समय मधुर वाणी का प्रयोग करें, क्योंकि

थोड़ी सी वाणी की कटुता से कई वार बड़े बड़े उपद्रव उत्पन्न हो जाते हैं ॥

(१६) जो मनुष्य इकट्ठे मिल कर कार्य करना चाहें उन्हें अपने मनों को उत्तम और संस्कृत बनाना चाहिये, तभी कार्यसिद्धि होगी ॥

(६)

समानी प्रपा सह वो अन्नभागः
समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा
नाभिमिवाभितः ॥ ६ ॥

अन्वयः—वः प्रपा समानी । वः अन्नभागः समानः । वः सामने योक्त्रे सह युनज्मि । नाभिं आभितः अरा इव सम्यञ्चः अग्निं सपर्यत ॥

अर्थ—तुम्हारा पानी पीने का स्थान समान हो । तुम्हारा अन्न का भाग समान हो । तुम्हें

एक ही धुरा (कार्य) में जोड़ता हूं। जिस प्रकार एक नाभी के चारों ओर आरे लगे होते हैं। इसी प्रकार इकट्ठे हो कर तुम ईश्वर की पूजा करो ॥

उपदेश

(१७) सब मनुष्यों का खाना पीना समान होना चाहिए ॥

(१८) परमात्मा ने संसार के सब मनुष्यों को एक महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिये एक धुरे में जोड़ा है, अतः मनुष्यों को भी चाहिये कि वे अपने आपको मनुष्य समाज का एक अङ्ग समझ कर मनुष्य मात्र की उन्नति के लिये सर्वदा प्रयत्न करें ॥

(१९) सब मनुष्य मिल कर एक ही प्रकाशस्वरूप परमेश्वर की पूजा करें ॥

(७)

सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणो-
म्येकश्नुष्टीन् त्संवननेन सर्वान् ।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायं
प्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥७॥

अन्वयः—सध्रीचीनान् संमनसः कृणोमि । संवननेन सर्वान् एकश्नुष्टीन् (कृणोमी) । सायं प्रातः अमृतं रक्षमाणाः देवाः इव वः सौमनसः अस्तु ॥

अर्थ—तुम एकत्र कार्य्य करने वालों को मैं सुसंस्कृत मन वाला बनाता हूं । समान भोग द्वारा तुम सब को एक कार्य्य रत करता हूं । जिस प्रकार प्रातःसायं अविनाशी (ज्ञान) को रक्षण (धारण)

करने हारे विद्वान् लोग उत्तम मन वाले होते हैं, उसी प्रकार तुम्हारा उत्तम मन होवे ॥

उपदेश ।

(२०) इकट्ठे कार्य करने वाले मनुष्यों का मन सुविद्या से सुसंस्कृत होना चाहिए ॥

(२१) ऐश्वर्यादि उपभोग्य पदार्थों की विषम प्राप्ति से परस्पर द्वेष होता है, इस लिए एकता की इच्छा करने वाले सब मनुष्यों के उपभोग्य पदार्थ समान होने चाहिए ॥

(२२) विद्वान् लोगों को उचित है कि वे प्रातःसायं अविनाशी अर्थात सत्यज्ञान का विचार करते हुए, उसी का सब लोगों को उपदेश करें ॥

(२३) यदि किसी मनुष्य से अन्य कोई अच्छा कार्य्य न हो सके तो उस को उचित है कि वह सर्वदा मन से अच्छे विचार करे ॥

(८)

संजानीध्वं संपृच्यध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते। (अथर्व० कां० ६ सू० ६४)

अन्वयः—संजानीध्वम्, संपृच्यध्वम्, वः मनांसि संजानताम्। यथा पूर्वे संजानानाः देवाः भागं उपासते॥

अर्थ और उपदेश

(२४) उत्तम ज्ञान को प्राप्त करो।

(२५) एक दूसरे के साथ मैत्री करो।

(२६) अपने मन को सुसंस्कृत (उत्तम ज्ञान से शुद्ध) करो॥

(२७) जिस प्रकार पूर्ण ज्ञान संपन्न लोग भजनीय परमेश्वर की उपासना करते हैं, (उसी प्रकार तुम भी करो)।

(६)

समानो मन्त्रः समितिः समानी
समानं व्रतं सह चित्तमेषाम् ।
समानेन वो हविषा जुहोमि
समानं चेतो अभिसंविशध्वम् ॥ २ ॥

अन्वयः—मन्त्रः समानः । समितिः समानी । व्रतं समानम् । एषां सह चित्तं । वः समानेन हविषा जुहोमि । समानं चेतः अभि संविशध्वम् ॥

अर्थ और उपदेशः—

(२८) तुम्हारे विचार समान [अर्थात द्वेष रहित] हों,

(२९) तुम्हारी सभा में एकता [विरोध का अभाव] हो ॥

(३०) तुम्हारा व्रत [कार्य] समान ॥

(३१) तुम्हारा चित्त समान हो ।

(३२) मैं तुम्हें समान अन्न देता हूं (अर्थात परमेश्वर के पास किसी का पक्षपात नहीं होगा, यह ध्यान में रख कर मनुष्य निष्पक्षपात होकर अपना व्यवहार करें)।

(३३) समान (एक) चित्त होकर (अपने कार्य्य में लगे रहो)

(१०)

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥ ३ ॥

अन्वयः—वः आकूतिः समानी । वः हृदयानि समानानि ॥ वः मनः समानं अस्तु, यथा वः सह सु-असति ॥

अर्थ और उपदेशः—

(३४) तुम्हारा अभिप्राय समान हो ।

(३५) तुम्हारा हृदय समान [द्वेष रहित] हो ।

(३६) तुम्हारे मनों में ऐसी एकता हो कि जिस से [तुम्हारे सब कार्य] एकत्रित मिल कर ठीक तरह हो सकें ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

आर्य्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के उद्देश्य ॥

प्रथम—वेद वेदाङ्गों तथा अन्य प्राचीन संस्कृत शास्त्रों की शिक्षा प्रदान करने और आर्य्योपदेशक प्रस्तुत करने के निमित्त विद्यालय स्थापित करना।

टिप्पणी—इस उद्देश्य की सिद्धि अर्थ सभा ने काङ्गड़ी ग्राम में हरिद्वार के निकट सं: १६५१ विक्रमी से गुरुकुल महा विद्यालय स्थापन कर रक्खा है वैदिक मगज़ीन तथा गुरुकु समाचार विद्यालय का प्रसिद्ध पत्र है, मूल्य केवल ३) वार्षिक है।

द्वितीय—सर्व साधारण के उपकारार्थ धर्म विज्ञान सम्बन्धी पुस्तकालय स्थापन करना।

टिप्पणी—वैदिक पुस्तकालयलाहौर जो सहस्रों ग्रन्थों से पूरित है, यथेष्ट से इस उद्देश्य को पूरा करता है।

तृतीय—वैदिक शिक्षा को पुनर्जीवित करने के निमित्त ग्रन्थ और पुस्तकें प्रकाशित करना।

टिप्पणी :—सभा की आज्ञानुसार अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं आर्य्य मुसाफिर मासिक पत्र उर्दू भाषा में छपता है, वार्षिक मूल्य ३) है, सप्ताहिक पत्र आर्य्य पत्रिका नामक इंगलिश भाषा में प्रकाशित होता है वार्षिक मूल्य ५) है, इन सबके द्वारा उपरोक्त उद्देश्य की सिद्धि होती है।

चतुर्थ :—वैदिक धर्म्म के प्रचारार्थ, पञ्जाब काश्मीर, पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त, सिन्ध और बलोचिस्तान आदि स्थानों में प्रबन्ध करना॥

पञ्चम—वैदिक धर्म्म के प्रचारार्थ नाना उपायों और साधनों को प्रयोग में लाना।

टिप्पणी—यह चतुर्थ व पंचम उद्देश्य बहुत से उपदेशकों और समाजों के वार्षिकोत्सवों द्वारा सफल किये जाते हैं।

HENRY II
B 1133. M D 1189
ELEANOR OF AQVITAINE
MATILDA
D 1167 M 2
GEOFFREY COVNT OF ANJOV
STEPHEN
M D 1154
MATILDA OF BOVLOGNE
OF NORMANDY
ROBERT
B 1056 D 1134
WILLIAM RVFVS
B 1060 D 1100
HENRY I
B 1068 M D 1135
MATILDA OF SCOTLAND
ADELA
B 1137 M
STEPHEN OF BLOIS
WILLIAM THE CONQVEROR
1027 M 1087
MATILDA OF FLANDERS
RICHARD
ROBERT THE MAGNIFICENT
RICHARD THE GOOD
EMMA
M 1 ÆTHELRED II OF ENGLAND
M 2 CNVT OF ENGLAND AND DENMARK
RICHARD THE FEARLESS
WILLIAM LONGSWORD
HROLF. DVKE OF THE NORMANS.
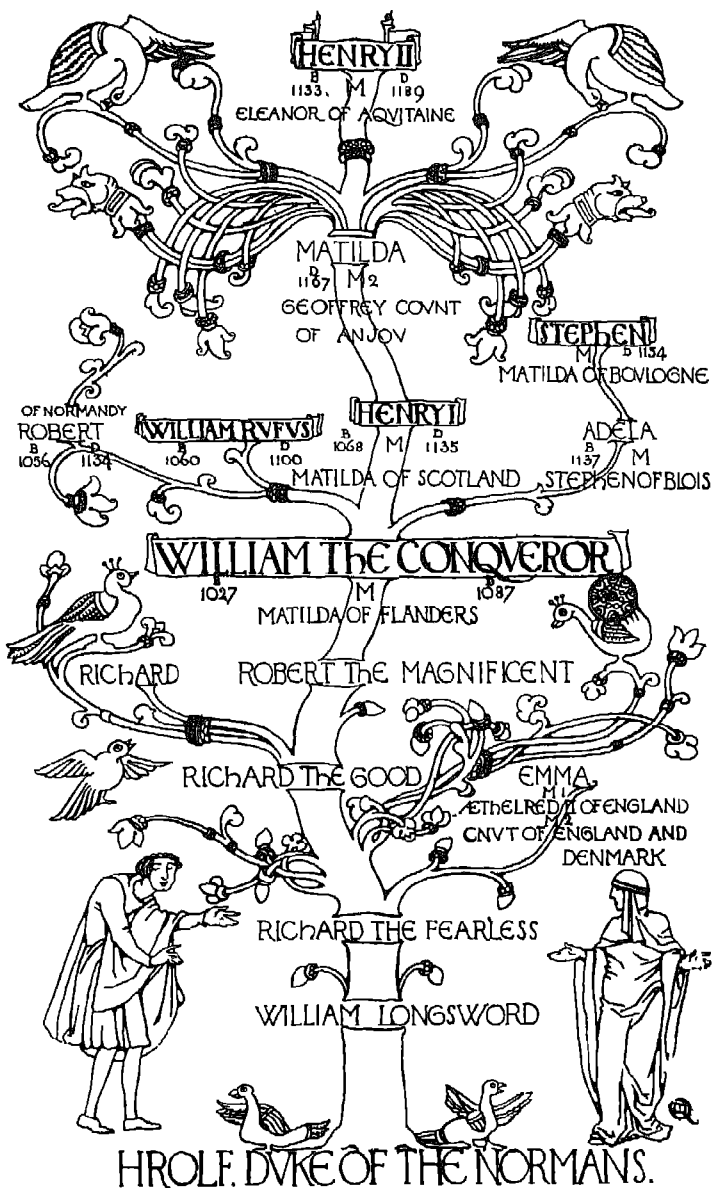
FIG 62

CHAPTER III

THE COMING OF THE NORMANS
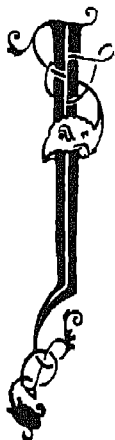
IN this chapter we arrive at the period with which we started in Part I of a "History of Everyday Things in England" In that book we dealt with the appearance of the Norman people and their ships, castles, monasteries, cathedrals, games, and general customs We shall not, therefore, cover the same ground again, but seek for new types so that the two books may be complementary one to the other

We think that the more the Normans are studied the greater respect one has for their energy and intelligence, but it needs some explanation that so much became possible to them They were of the same Nordic type as the Saxons and Vikings, and it was as the Northmen, or Norsemen, that they settled in Normandy, under Hrolf, in 912, and, as we showed on page 68, very unpleasant neighbours the French found them

It will be well, at this point, for boys and girls to check their historical perspective To-day, quite properly, they think with pride of England as the homeplace of a great commonwealth of free nations, but it was not so in ancient times In the Bronze Age England was El Dorado, and men sought gold here In the Roman Empire we took the place of a troublesome north-west province, with Scots, Picts and Saxons to hamper and fret the Romanized Britons, and in the later Anglo-Saxon invasions the whole country sank back into anarchy and confusion France was spared many of these troubles The Roman Empire was more firmly established in Gaul than in our island, and better able to withstand the Franks who invaded them, and the Roman Gauls had this great advantage, that their enemies, whose leader, Clovis, was

baptized in 496, became Christians 100 years before Augustine appeared on our shores to convert the men of Kent , so in Gaul men settled down and made good the damage of the invasions, long before we were able to do the same In this way they were more prepared for the later Viking raids than we were, and the Normans were the only northern people who were able to obtain any foothold in France, and here again they did not work so much destruction as our Vikings The Normans appear to have been content to settle down in Normandy and benefit by the civilization of their neighbours, instead of destroying it Like Alfred, they were curiously eager to investigate things unknown

FIG 63 —Carpenter

Master Wace

We will now try to find out what kind of people they were Our principal authority will be Master Wace and his Chronicle of the Norman Conquest from the Roman de Rou Wace was a trouvère or troubadour at the court of Henry II, and his sprightly tale forms an admirable text to the pictures of the Tapestry at Bayeux, which is another great record of the Conquest

Wace gives us a graphic picture of life in Normandy when William was forging the sword with which to conquer England His barons were turbulent, and before they could be welded into a whole by feudalism had to be persuaded to leave off killing one another The Truce of God was introduced by William, in 1061, and enforced by him as a restraint on the Normans " He made all swear on the relics to hold peace and maintain it from sunset on Wednesday to sunrise on Monday This was called the TRUCE, and the like of it I believe is not in any country. If any man should beat another meantime, or do him any mischief, or take any of his goods,
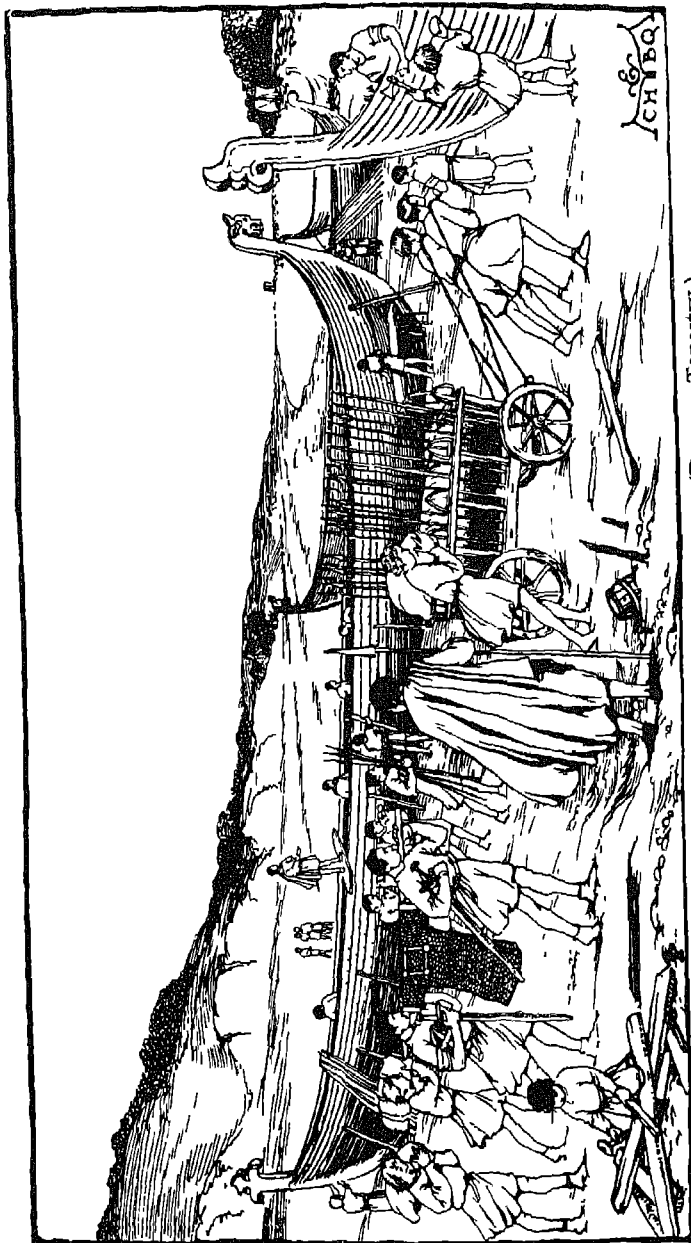
FIG 64.—The Building of William's Fleet. (Bayeux Tapestry)
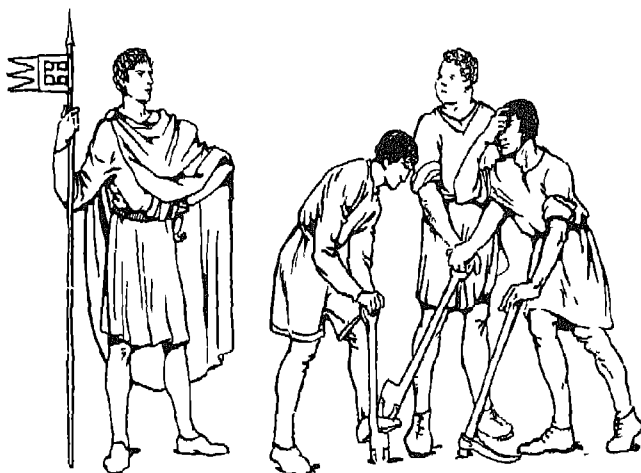
FIG 65 —William's Sappers

he was to be excommunicated, and amerced nine livres to the bishop "

Harold, on his way to Normandy, was taken prisoner by the Count of Ponthieu, and delivered up to William, who thus appeared to come to Harold's rescue He was nobly entertained by the Duke, and then trapped into promising to deliver England to the Norman on the death of Edward To receive the oath, William caused a Parliament to be called. As well, " He sent for all the holy bodies thither, and put so many of them together as to fill a whole chest, and then covered them with a pall, but Harold neither saw them, nor knew of them being there; for nought was shown or told to him about it, and over all was a phylactery, the best that he could select, oeil de boeuf, I have heard it called When Harold placed his hand upon it, the hand trembled, and the flesh quivered, but he swore, and promised upon his oath to take Ele to wife, and to deliver up England to the duke . when Harold had risen upon his feet, the duke led him up to the chest, and made him stand near it, and took off the chest the pall that had covered it, and shewed Harold upon what holy relics he had sworn, and he was sorely alarmed at the sight "

Harold's Oath
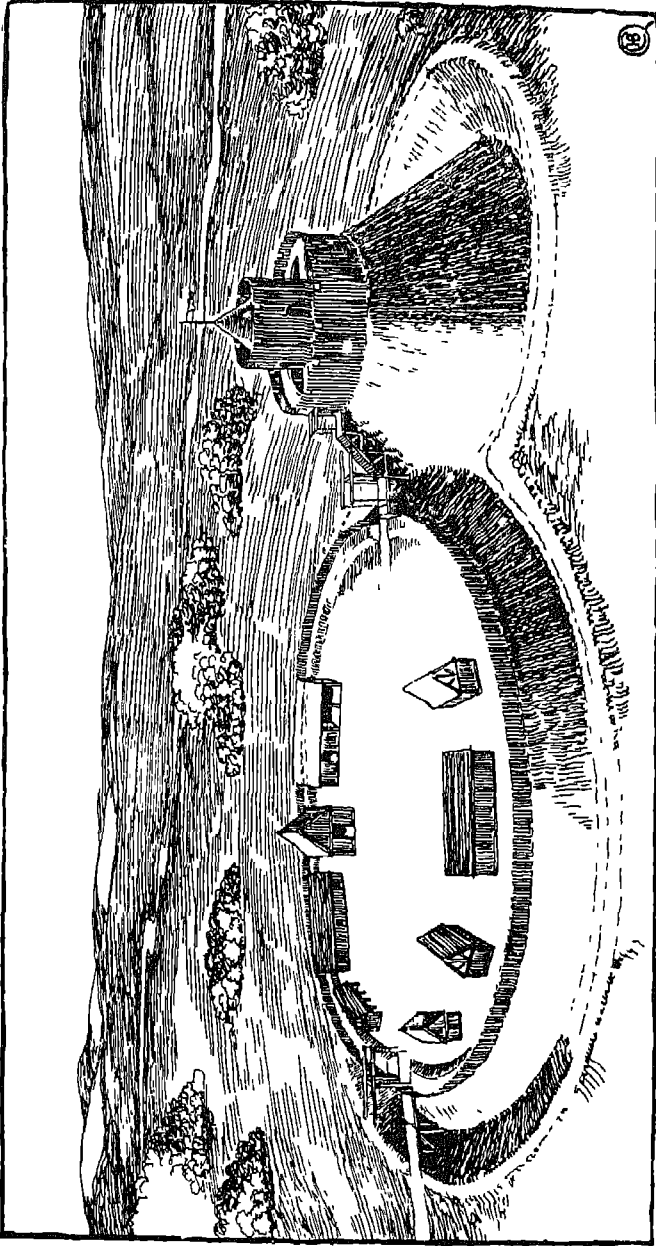
FIG 66.—Mount-and-Bailey Castle (Reconstruction from Bayeux Tapestry)
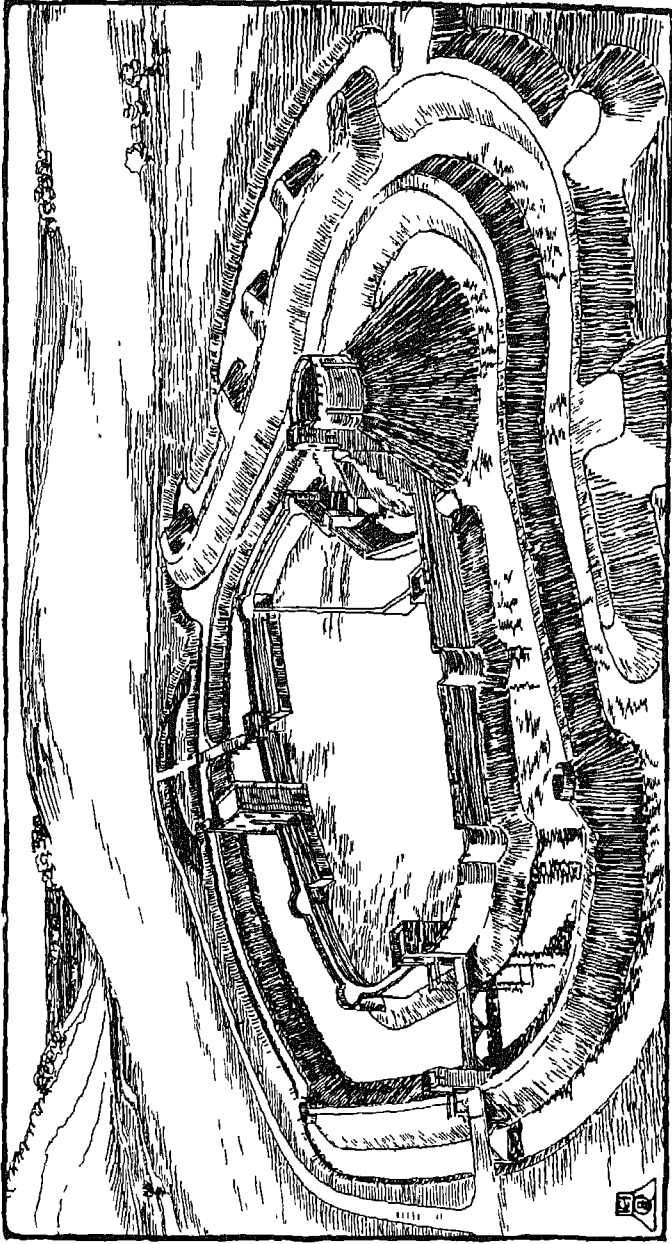
FIG 67 —Aeroplane View of Berkhampstead Castle, Herts (Partial reconstruction)

Fig. 68—William's Army Cooks

We can read in Wace how, when Harold failed to keep his promise, the preparations for the conquest went forward William received gifts and promises of men and ships, the old Viking spirit of adventure came into play again, and the signs were auspicious. "Now while these things were doing, a great star appeared, shining for fourteen days, with three long rays streaming towards the south, such a star as is wont to be seen when a kingdom is about to change its king" There was great enthusiasm William "got together carpenters, smiths, and other workmen, so that great stir was seen at all the ports of Normandy, in the collecting of wood and materials, cutting of planks, framing of ships and boats, stretching sails and rearing masts, with great pains and at great cost They spent all one summer and autumn in fitting up the fleet and collecting the forces"

Then the time came when they were ready to sail, and "they prayed the convent to bring out the shrine of S. Valeri, and set it on a carpet in the plain, and all came praying the holy reliques, that they might be allowed to pass over sea They offered so much money, that the

Fig 69—William's Army Cooks
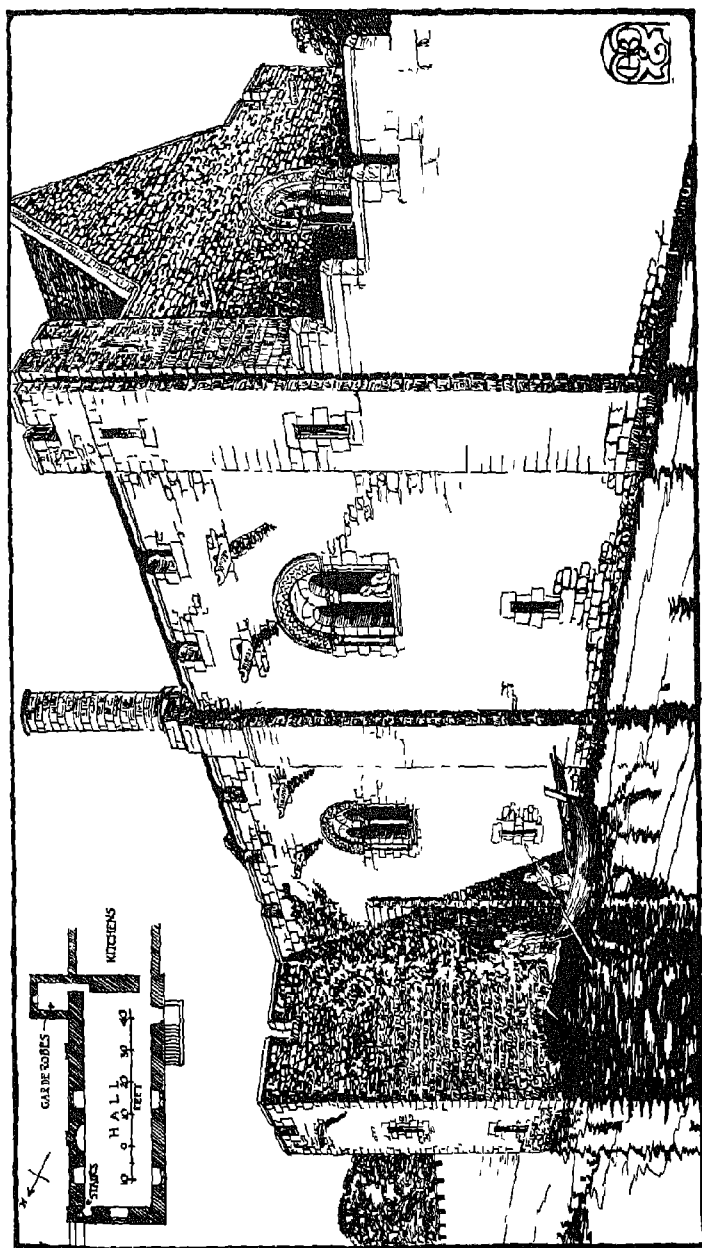
FIG 70 —Exterior of Norman House, Christchurch, Hants. (Partial reconstruction)
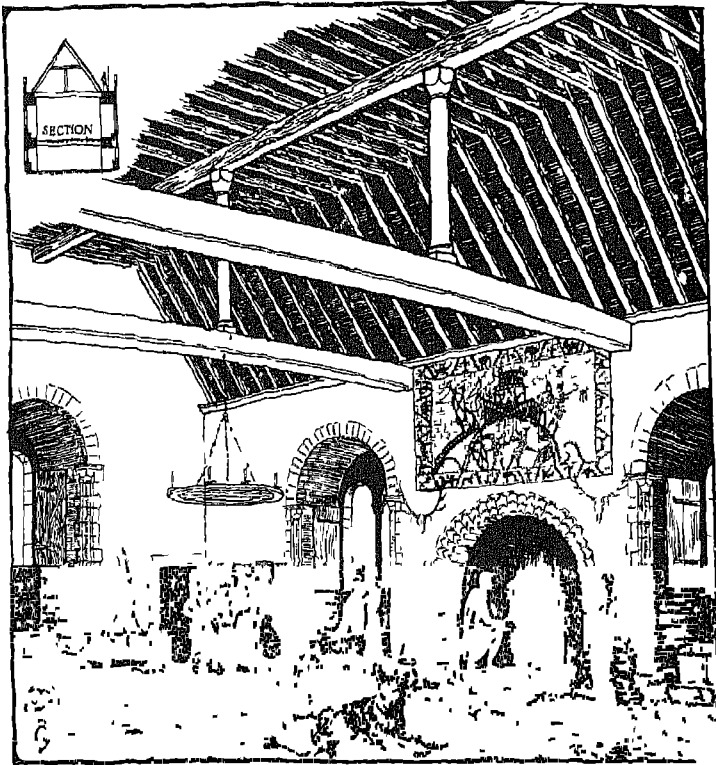
FIG 71 —The Hall of the Norman House, Christchurch, Hants (Partial reconstruction)

reliques were buried beneath it , and from that day forth, they had good weather and a fair wind "

Wace tells how " I heard my father say—I remember it well, although I was but a lad—that there were seven hundred ships, less four, when they sailed from S Valeri , and that there were besides these ships, boats and skiffs for the purpose of carrying the arms and harness," and when at length they started, " The Duke placed a lantern on the mast of his ship, that the other ships might see it, and hold their course after it "
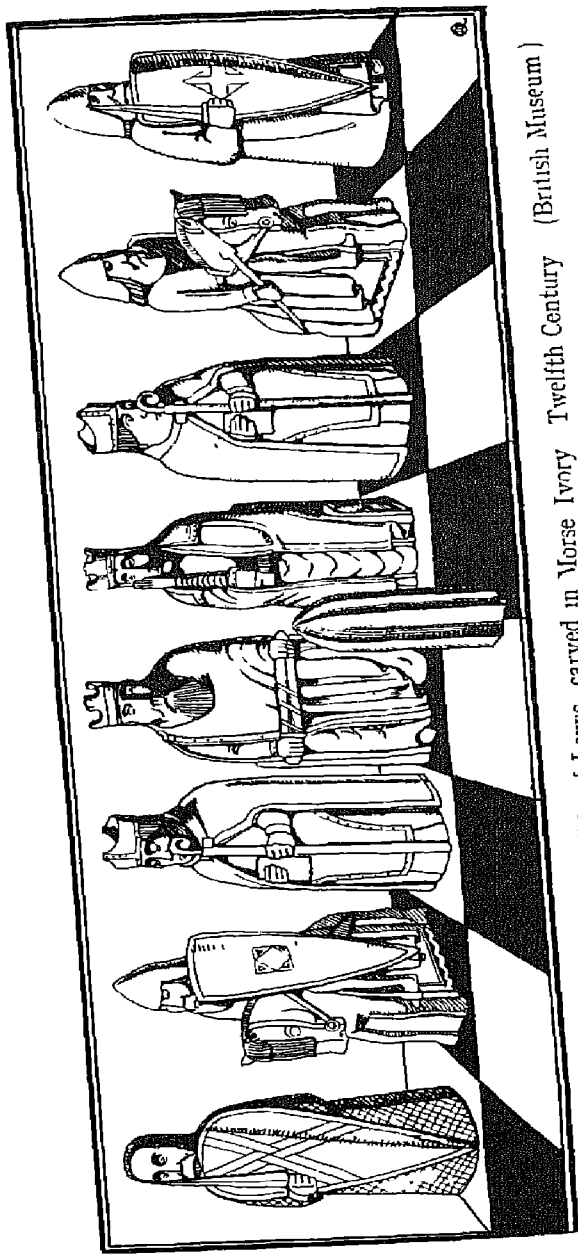
FIG 72—Chessmen found at Uig, Isle of Lewis, carved in Morse Ivory Twelfth Century (British Museum)

Norman Landing
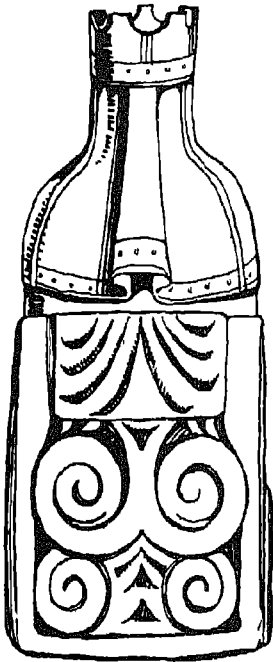
FIG 73 —Back of the Queen

When they reached England, "As the ships were drawn to shore, and the Duke first landed, he fell by chance upon his two hands Forthwith all raised a loud cry of distress, 'an evil sign,' said they, 'is here' But he cried out lustily, 'See, seignors, by the splendour of God! I have seized England with my two hands, without challenge no prize can be made, all is our own that is here, and now we shall see who is the bolder man'"

The archers "touched the land foremost, each with his bow bent and his quiver full of arrows slung at his side All were shaven and shorn, and all clad in short garments, ready to attack, to shoot, to wheel about and skirmish The knights landed next, all armed, with their hauberks on, their shields slung at their necks, and their helmets laced. They formed together on the shore, each armed upon his warhorse. All had their swords girded on, and passed into the plain with their lances raised The barons had gonfanons, and the knights pennons They occupied the advanced ground, next to where the archers had fixed themselves The carpenters, who came after, had great axes in their hands, and planes and adzes at their sides When they had reached the spot where the archers stood, and the knights were assembled, they consulted together, and sought for a good spot to place a strong fort upon Then they cast out of the ships the materials and drew them to land, all shaped, framed and pierced to receive the pins which they had brought, cut and ready in large barrels, so that before evening had well set in, they had finished a fort Later a

knight describes how " he saw them build up and enclose a fort, and dig the fosse around it," and how " they strengthened it round about with palisades and a fosse "

Fig 71 —Back of the King

Castles

The castle which Wace describes is similar to that shown on the Bayeux Tapestry, which we illustrate in Fig 66 It is called now the Mount-and-Bailey type The Mount was formed by scarping down a natural hill, or raising an artificial one with the earth dug out of the ditches On this the fort was built and surrounded by a timber palisade The ditch of the mount was taken as well round the bailey, and here were the stables, barns, kitchens, and barracks The site always included a good spring of water In such a castle William could leave a garrison to hold down the countryside The Saxons had nothing so scientific at their disposal Just as the Viking with his ship as a base, and his horse to carry him about, could deliver a blow at his own time, so the Normans, in the security of their castles, could select the moment for attack

William knew all about building stone castles Wace tells us how William of Arques built a tower above Arches (Chateau d'Arques, near Dieppe), and was besieged there by Duke William The King of France came to the assistance of William of Arques, and Duke William, hearing of his intention, " strengthened his castles, cleaning the fosses, and repairing the walls Caen was then without a castle, and had neither wall nor fence to protect it " Stone
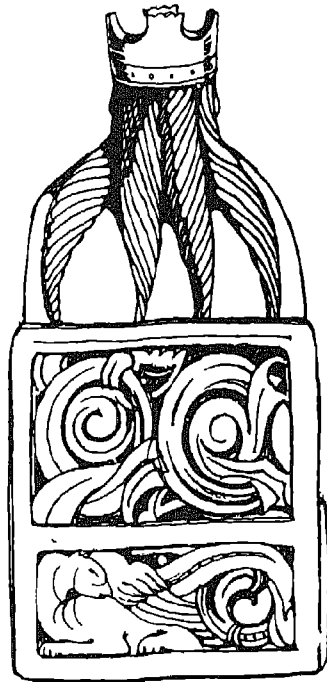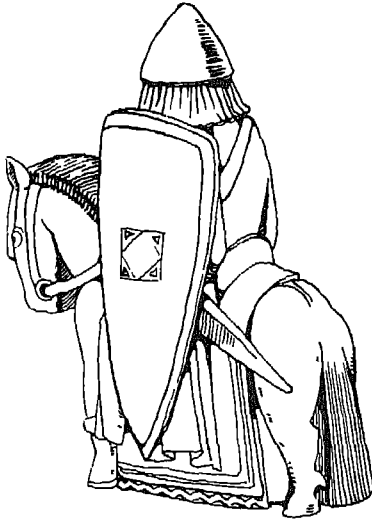
FIG 75 —The Knight

walls are evidently meant here and differentiated from wooden fences or palisades William built timber castles at first in England because they could be constructed quickly

We can now return to the details of the Conquest, and as the pages of Wace are read one becomes very sorry for the Saxons, they were beaten by the most wonderful staff work. William not only brought over castles packed in casks, but remembered that armies march on their stomachs Wace tells how "you might see them make their kitchens, light their fires, and cook their meat The duke sat down to eat, and the barons and knights had food in plenty, for he had brought ample store All ate and drank enough, and were right glad that they were ashore"

The Bayeux tapestry shows the Normans arriving at Pevensey, but according to Wace they first landed near Hastings and William "ordered proclamation to be made, and commanded the sailors that the ships should be dismantled, and drawn ashore and pierced, that the cowards might not have the ships to flee to" This can only be regarded as a gesture to his men that they must do or die William would hardly have cut off his line of retreat, or have built a fort at Hastings, except to leave a garrison in it to safeguard the fleet

His next step was to move west about 12 miles to Pevensey "The English were to be seen fleeing before them, driving off their cattle, and quitting their houses All took shelter in the cemeteries, and even there they were in grievous alarm" Here again is evidence of staff work. Pevensey
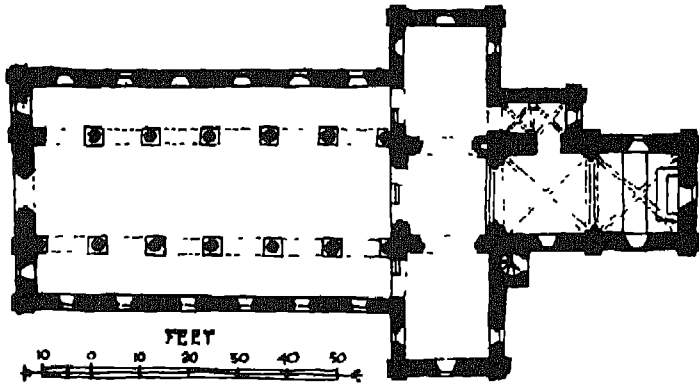
FIG 76—Plan of Hemel Hempstead Church, Herts

was one of the forts built about 300 A D. by the Romans to protect the east and south coasts from the Saxon raids (see Part 3, page 90) As the Roman walls with their bastions enclosing several acres are still standing to-day, they must, in William's time, have formed a good strong base where he could be safe and so compel Harold to come to him

This was what poor Harold had to do He came post haste from the Humber, from his encounter with Tosti, first to London, and then south again, and " erected his standard and fixed his gonfanon right where the Abbey of the Battle is now built," about 9 miles away from William at Pevensey Here Harold dug himself in " He had the place well examined and surrounded it by a good fosse, leaving an entrance on each of the three sides, which were ordered to be all well guarded "

We shall not concern ourselves very much with the details of the fighting, but there is one very interesting detail which must be noted. In the old Viking days, and the tale of Burnt Njal, fighting is mentioned quite casually, as fishing might be, or hunting. It was undertaken as a sport. From the time of the Normans onwards people sought to justify themselves There were many parleys in 1066, and much talk of the justice of the respective causes Each side appealed for the favour of Heaven, and there were threats of the dire consequences which would befall the opponent. The

combatants, like modern boxers, reassured themselves, and their backers, and appear to have stood in need of support When William "prepared to arm himself, he called first for his good hauberk, and a man brought it on his arm and placed it before him, but in putting his head in to get it on, he inadvertently turned it the wrong way, with the back part in front He quickly changed it, but when he saw that those who stood by were sorely alarmed, he said, 'I have seen many a man who, if such a thing happened to him, would not have borne arms or entered the field the same day, but I never believed in omens, and I never will I trust in God'"

One of Harold's spies, who had seen the Normans, reported that they "were so close shaven and cropt, that they had not even moustaches, supposed he had seen priests and mass-sayers, and he told Harold that the duke had more priests with him than knights or other people" But Harold replied, "Those are valiant knights, bold and brave warriors, though they bear not beards or moustaches as we do" William's priests were quite prepared to be useful "Odo, the good priest, the bishop of Bayeux, 'was always found' where the battle was most fierce, and was of great service on that day"

After the battle, "The English who escaped from the field did not stop till they reached London" Again there is evidence of wonderful staff work William did not at once pursue the enemy, but turned his attention to consolidating his position.

We will now ask our readers to refer to the map, Fig 3, in Part III of this series, or the much better one of Roman Britain published by the Ordnance Survey It will be seen why William selected Hastings as his point of attack Pevensey was close by, and all by itself and so more vulnerable On the other hand, the usual entrance into England, by Watling Street, was protected by a group of forts at Lympne, Folkestone, Dover, Richborough, and Reculver Some of these must have been in repair, because we read in Wace, of how William went back east to Romney, which he destroyed, and then on to Dover Obviously some Norman troops had been detailed to hold the English in check, and prevent them coming to the assistance of Harold, because Wace says that William did not rest "till he reached Dover, at the strong fort he had ordered to be made at the foot of the hill"

Here he besieged the old Roman fort, and though the place was well fortified, took it after an eight-day siege William placed a garrison in it, and was now ready for the great adventure, he had won a great battle, could he hold the country?

Canterbury rendered homage and delivered hostages to the Conqueror, who then journeyed to London Arrived at Southwark, the citizens issued out of the gates, but were speedily driven back, and the Normans burned all the houses on the south side of the Thames Here again William gave another proof of genius He had given the Londoners a taste of his quality, and his most urgent need was to thrust a spear head in between his enemies before they had the opportunity to gather their forces together This William did by going to Wallingford on the Thames, where it is thought that he crossed, and then passed by Icknield Way to the gap in the Chilterns at Tring, and then on to our own town of Great Berkhampstead Again we will look at the map of Roman Britain and note that William's last raid gave him possession of many of the roads leading into London First there was Stane Street from Portsmouth and Chichester Then the very important road crossing the Thames at Staines, which branched off at Silchester into three roads serving the south and west At Tring, William cut across Akeman Street, and could control Watling Street at Dunstable The strategy was brilliantly successful, because the English surrendered and William received the crown of England in the grounds of Berkhampstead Castle In any case, when we had our pageant at Berkhampstead, in 1922, the player who took the part of William was so invested.

We can now pass on to the work of the Normans when they were established in the country, and Fig 67 shows a reconstruction of Berkhampstead Castle. It is supposed that the earthworks and the Mount are the work of Robert, Count of Mortain, who was in possession of Berkhampstead at the time of Domesday Little remains now except earthworks and broken walls to mark an historic site, one which has seen perhaps as much of both the gay and the busy side of mediæval life as any of our more ancient castles except Windsor Thomas Becket was in charge of the works from 1155 to 1165. Edward III and the Black Prince held their

courts within its walls Froissart was another inhabitant, and Geoffrey Chaucer another clerk of the works In 1930 this sadly neglected relic was placed under the guardianship of H.M Ministry of Works and put into a state of preservation

Shell Keep

The plan is of great interest because it shows the development of what is called the Shell Keep As the artificial mounts became consolidated, the timber forts, as Fig 66, were replaced with a stone wall At Berkhampstead, Fig 67, when the Mount was excavated, it was discovered that this Shell was about 60 feet external diameter, the wall being 8 feet thick There would have been a rampart walk on the top of this, and various sheds around it inside There were steps up the Mount, and these were protected by a tower at the top, and by the moat or ditch being taken around the Mount at the base The Bailey had an inner and outer ward, and these were surrounded by flint rubble walls about 7 feet thick, of which some few parts remain These had bastions and gates as shown, and were further protected by the two ditches and bank between, which make the castle so interesting

The next development of the castle is shown in Part I of *Everyday Things in England*, pages 11-19

Norman House

We will now describe one of the most interesting buildings in England, the Norman House at Christchurch, Hants, the ruins of which are situated in the Garden of the King's Head Hotel The important detail to remember is that the English house started its life as a hall On page 18 we have given a description of the hall in Beowulf, but here at Christchurch we can leave literary evidence behind, and look at the actual stones of an early twelfth century house It started life as the hall of the castle, and was built between 1125-1150 In Beowulf the hall is obviously on the ground floor level, but at Christchurch it has been moved to the first floor This gave more sense of security, and enabled the windows to be bigger than would have been possible on the level of the ground These had no glass, only wooden shutters for use at night The hall was to remain on the first floor until life became a little more secure, in the fourteenth century, when it was moved downstairs, as at Penshurst

Unfortunately the very considerable remains at Christchurch are so swathed with ivy, that the walls are not only being
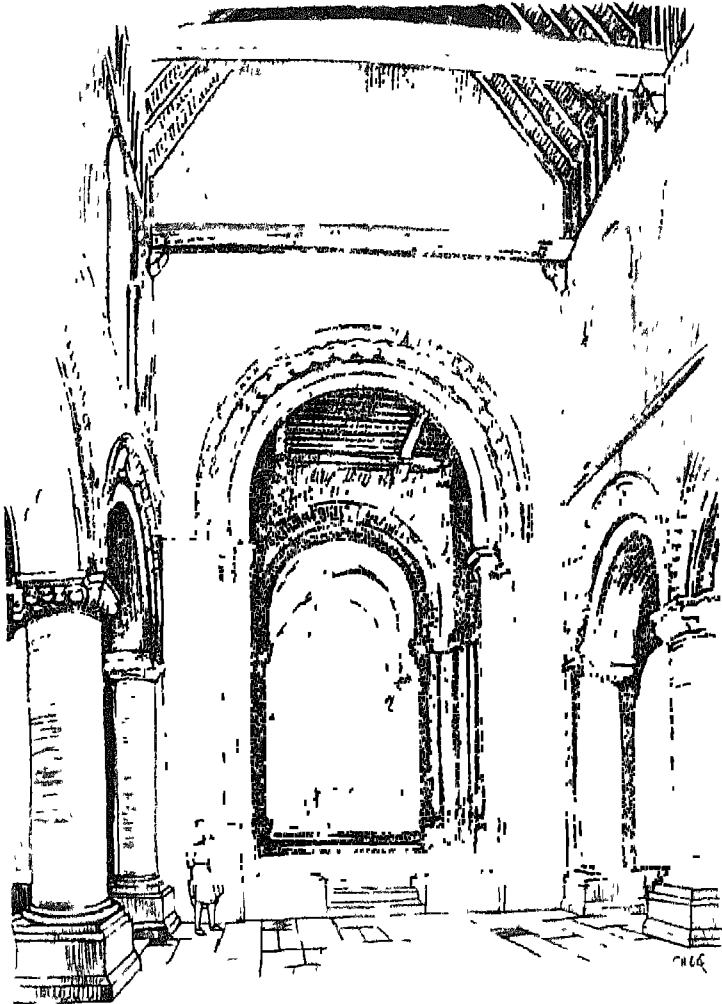
FIG 77 —The Interior of Hemel Hempstead Church, Herts (Partial reconstruction)

destroyed, but it is very difficult to form any idea of what the building used to look like However, we have made a careful survey of the ruins, and Figs 70 and 71 are our reconstructions The plan is very simple, just one large hall on the first floor, where the family lived, ate, and slept, because there was nowhere else to go One remarkable detail is that there is a good fireplace in the hall, yet side by side, the old custom of the fire in the centre of the hall was to remain till as late as 1570 at the Middle Temple Hall At Christchurch the kitchens came at the S. end of the hall, where also were the garderobes or latrines. At the N end was a circular staircase, which led up to the ramparts and down to a large room on the level of the ground, where doubtless men-at-arms and stores were Then, of course, there would have been many sheds, stables, and barns, in the Castle Bailey, which was surrounded by a wall The house was built as part of this wall, so that the inhabitants could look across the mill stream, to which access was gained by a water gate, shown in Fig 70 If our readers are interested in the development of the house plan, we should like to refer them to Part I of *Everyday Things in England*, where we have shown how other rooms were gradually grouped around the hall, until, in the fifteenth century, the hall had become a house as we understand it

Chessmen Figs 72, 73, 74, and 75 are of a magnificent set of chessmen now in the British Museum They are carved in morse ivory and were found at Uig in the Isle of Lewis They date from the twelfth century The people in the hall at Christchurch may have played chess with chessmen like these The king stands 4 inches high The warders, one biting his shield in rage, which take the place of the castles, should be noted

Now we are approaching the end of our task, and with superb artistry have kept the really triumphant achievement of the Normans for our finale Unless we are careful, we look back and think only of their castles , we may have been to the Tower of London, or have caught sight of Rochester on our way along that very old way, Watling Street, or we may have been to Castle Hedingham, Essex. These three wonderful Keeps may have oppressed our spirits, as they did the Saxons who were held in thrall under their walls
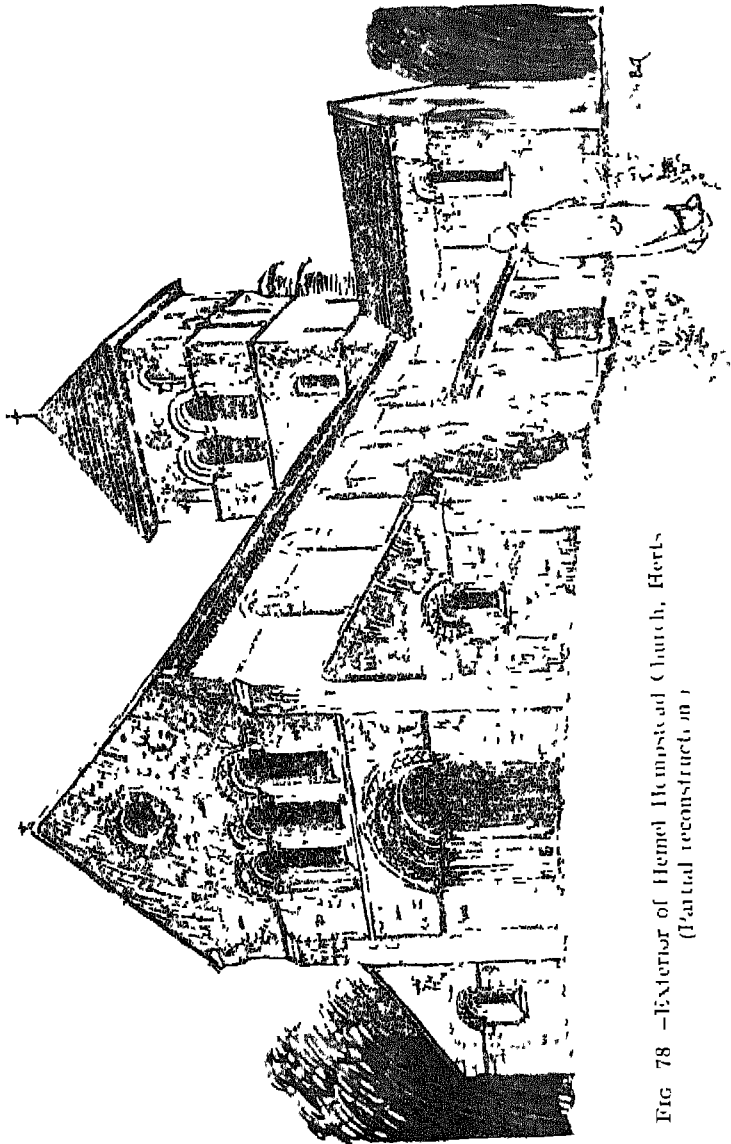
Fig 78 —Exterior of Hemel Hempstead Church, Herts (Partial reconstruction)
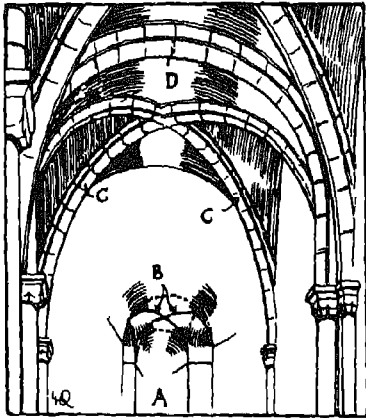
FIG 79 —Chancel Vaulting, Hemel Hempstead Church, Herts

Stare, stark, and strong, these great walls rear themselves up, yet they are full of delightful little bits of detail which gladden the architect Judged only by their castles, the Normans would seem too fierce and formidable, but when we come to their cathedrals, and churches, there is a very different tale to tell The architecture is still fierce and proud It lacks the grace of the thirteenth century, and makes you think of a race of priests who could challenge kings and usurers Abbot Samson, of whom Carlyle wrote in *Past and Present*, and Becket were of the same breed, turbulent, but very strong, and not given to compromise or half measures in their fight against evil There is hardly a cathedral in England in which their hand cannot be traced, and their vision and grasp of planning was superb, it was almost as if they took William's favourite oath as their motto and built to the " Splendour of God."

Norman Church

We have selected for our illustrations, not a cathedral, but the Church of Hemel Hempstead, Herts, which shows how the Normans went to work when they wanted to build a parish church in a small market town about 1140.

We will ask our readers first to study the plan, Fig. 76, and as the majority of them, we hope, will be boys and girls who want to do creative work, they must acquire, in a very un-English way, the habit of liking plans All buildings, all engineering work, all paintings, and sculpture, are built up on plans, or lay-outs, and the plan settles the structure, it is the skeleton. A bad plan means inevitably a bad building, one which has not been thought out, it will be crippled and mis-shapen, and these faults will not be redeemed by any amount of detail, no matter how beautiful

The plan Fig 76 shows that the men of Hemel Hempstead, in 1140, understood the value of a simple lay-out of cruciform type, and Fig 77 how this resolved itself into a wonderful interior, in which one looked through darkness into light Fig 78 is the exterior Our illustrations have been made from sketches of the actual building, and the few liberties we have taken, have only been in the way of eliminating later work, and restoring the Norman detail, internally, we have omitted the modern "Gothic" choir stalls, and externally the later leaded spire is not shown on the Norman tower, and so on The church has, fortunately for us, escaped the vandalism of the nineteenth century in a surprising fashion

Vaulting

Fig 79 shows the vaulting to the chancel, and is an amusing example of how the old masons played with the problems of solid geometry The Normans at first used the plain semi-circular barrel vault Then one day somebody made two of these vaults cross as A (Fig 79), but the result did not satisfy them for long, because the intersections, or groins, at B, were necessarily flatter than a semi-circle, they had to be, because their span was greater than that of the vault, and they had to spring, and finish, at the same levels So the next step was to make the groin itself semi-circular, as shown in the main drawing of Fig 79 at C Then the cross ribs at D had to be raised up on legs, or stilted, to reach to the height of the groins This was really a little clumsy, so the cross rib was turned into a pointed arch, but that is another story which is told in Part I of *Everyday Things in England*, where we show how step by step the old masons progressed up to the glorious fan vaulting of Henry the VII's Chapel at Westminster Abbey

If this church at Hemel Hempstead is compared with those of the Anglo-Saxons we have illustrated, it will be noted how great an advance the Normans made in the art of building, there is no fumbling with their work, but a splendid self-confidence They were a wonderful people and their stock first comes into notice with the Norsemen, or Northmen, who raided our land as Vikings They played a great part here in Saxon times, and, as we noted on page 84, the majority of the churches we now call Anglo-Saxon are found in the parts of the country in which the Vikings settled We must bear in mind their travels to the East through

Russia their discoveries by land, and their adventures by sea They were a people, and it is a period, to which far more detailed study should be given than is possible in this little book.

England has welcomed many men. The man of the Old Stone Age , the Mediterranean men of the New Stone Age , and the Celts Rome and her legionaries brought blood from all over Europe Then came the Angles, Saxons, and Jutes , the Vikings and Normans , the Angevins, Flemings, Huguenots, and all the other races who have drifted in Age after age the soil of our island has attracted men , here they have lived, and dying, their bones or ashes have been turned into the soil of England Each in their turn have made their contribution to the common stock, and the genius of the race, and the Viking, Norseman, or Norman, was not the least of these men It may well be that England will go forward just so long as their courage and love of adventure are not allowed to be swamped by the vulgar chaffering of the market place

And here our task ends. Farewell
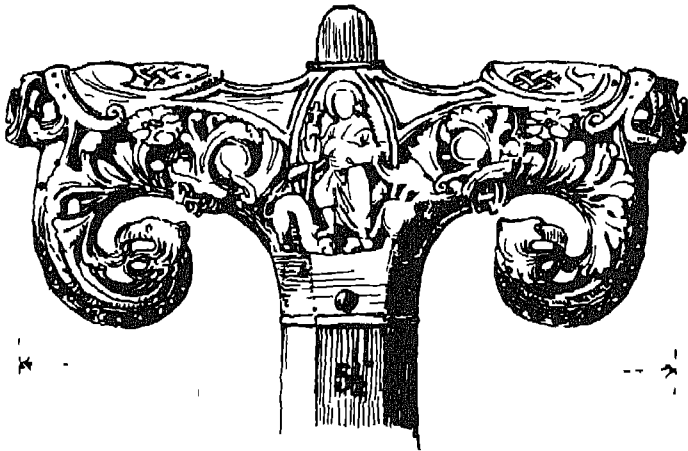
Fig 80 —Head of Tau—Cross of Walrus Ivory, found at Alcester, Warwickshire. Early Eleventh Century (British Museum)

INDEX TO TEXT AND ILLUSTRATIONS

NOTE —*The ordinary figures denote reference to pages of text those in black type, the illustrations*

INDEX TO TEXT AND ILLUSTRATIONS

BIBLIOGRAPHY

GAVIN BONE *Anglo-Saxon Poetry* (Oxford, 1944)

G BALDWIN BROWN *The Arts in Early England* Six volumes (John Murray, 1925)

H M CHADWICK *The Heroic Age* (Cambridge, 1912)

H M and N K CHADWICK *The Growth of Literature* (Cambridge, 1932)

DU CHAILLU *The Viking Age* Two volumes (John Murray, 1889)

R G COLLINGWOOD and J N L MYRES *Roman Britain and the English Settlements* (Oxford, 1936)

G W DASENT *The Story of Burnt Njal* (Dent, Everyman Library), N D

ELEANOR DUCKETT *Anglo-Saxon Saints and Scholars* (Macmillan, 1947)

G M GATHORNE-HARDY *The Norse Discoverers of America* (Oxford, 1921)

J R CLARK HALL *Beowulf* (Cambridge, 1914)

G A HIGHT *The Saga of Grettir the Strong* (Dent, Everyman Library, 1929)

R H HODGKIN *History of the Anglo-Saxons* (Cambridge, 1935)

RONALD JESSUP *Anglo-Saxon Jewellery* (Faber, 1950)

T D KENDRICK *Anglo-Saxon Art* (Methuen, 1938)

T D KENDRICK *A History of the Vikings* (Methuen, 1930)

E T LEEDS *Early Anglo-Saxon Art and Archaeology* (Oxford, 1936)

T C LETHBRIDGE *Merlin's Island* (Methuen, 1948)

ERLING MONSEN *Heimskringla, or the lives of the Norse Kings* (Heffer, 1931)

AXEL OLRIK *Viking Civilization* (Allen and Unwin, 1930)

D D C POCHIN MOULD *Scotland of the Saints* (Batsford, 1952)

D. D. C POCHIN MOULD *Ireland of the Saints*, (Batsford, 1953)

F. M STENTON *Anglo-Saxon England* (Oxford, 1943)

SUTTON HOO SHIP BURIAL (British Museum, 1947)

TALBOT RICE *English Art*, 871–1100 (Oxford, 1952)

A H. THOMPSON *Bede* (Oxford, 1935)